

हिमाचल प्रदेश

लोक जीवन और परम्पराएं

(लोकसाहित्य तथा जनजातीय संस्कृति से सम्बन्धित लेख)

सम्पादकमण्डल
डॉ० बंशीराम शर्मा
श्री मौलूराम ठाकुर
श्रीमती सरोज संख्यान

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
शिमला-171001

हिमाचल ज्ञानकोश माला—३

लोकजीवन और परम्पराएं

(लोकसाहित्य तथा जनजातीय संस्कृति)

प्रकाशक : सचिव, हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
क्लिफ एण्ड एस्टेट, शिमला-171001

प्रथम संस्करण : 1987

मुद्रक : जीवन प्रिंटिंग प्रैस घुमारवीं, ज़िला बिलासपुर (हि. प्र.)

मूल्य : 20/- रु.

प्रतियां : 1000

Himachal Pradesh : Lok Jeevan Aur Paramparain.

विषय-सूची

प्राक्कथन

हिमाचल प्रदेश प्रकृति का मुखरित एवं आकर्षक क्षेत्र है। यहां के नदी, झरने, हरे-भरे पर्वत तथा घाटियां, शस्य श्यामला धरती, हंसते-गाते निवासी, प्राचीन, विचित्र तथा विशिष्ट परिधान तथा लोक-जीवन के अदभुत संस्कार इस क्षेत्र को हिमालय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदेश बनाते हैं। तपोभूमि हिमाचल अनेक दृष्टियों से विश्व का महिमामय भूभाग है। प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और शोध प्रबन्धों के माध्यम से पहाड़ी भाषा और साहित्य पर व्यापक प्रकाश पड़ा है।

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी की स्थापना के पश्चात प्रदेश में साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कला सम्बन्धी जागरूकता का अध्याय आरम्भ हुआ है। अकादमी की एक विशद योजना "हिमाचल ज्ञानकोश" के अन्तर्गत यह तीसरा पुष्प है। इससे पूर्व इस कड़ी में "डिस्क्रिप्टिव बिबिलियोग्राफी ऑफ हिमाचल प्रदेश" तथा "घटना और श्रम प्रधान लोक गीत" मानक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक **"लोक जीवन और परम्परायें"** में मुख्यत: जनजातीय संस्कृति पर सामग्री संकलित है। हिमाचल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में आठ जनजातियां निवास कर रही हैं। ये किन्नौर, लाहुल–स्पिति, भरमौर और चम्बा के अन्य भागों में निवास करती हैं। अकादमी द्वारा इस विषय पर एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित करने की योजना पर्याप्त समय पूर्व आरम्भ की गई थी, उसके लिए रचनाएं भेजने हेतु विभिन्न विद्वानों को सहयोजित किया गया था परन्तु योजना के अनुसार निर्धारित संख्या में रचनाएं प्राप्त नहीं हुईं अत: इस संकलन में लोक जीवन के सभी अंगों–उपांगों पर सामग्री प्रस्तुत नहीं की जा सकी। यह एक पुस्तक में सम्भव नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि चयनित विषयों पर भिन्न–भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत पुस्तकों के प्रकाशन किए जांए। इसी उद्देश्य से अकादमी द्वारा "हिमाचल ज्ञानकोश" योजना के अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं।

आशा है विद्वान पाठकों को लोक साहित्य तथा जनजातीय संस्कृति के बारे में परिचयात्मक ज्ञान प्रदान करने में यह प्रयास सार्थक होगा।

शिमला : 25 मार्च 1988

–वीरभद्र सिंह
अध्यक्ष,
हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
एवं मुख्यमन्त्री, हिमाचल प्रदेश।

दो शब्द

पश्चिमी हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य में स्नात् सांस्कृतिक हिमाचल सैनानियों, शोधकर्ताओं, तपस्वियों तथा आध्यात्मिक एवम् मानसिक शान्ति के इच्छुक साधकों के लिए अद्वितीय भूखण्ड है। इस भूभाग के विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए यह आभास होता है कि शिवालिक पर्वतमाला की मटमैली पर्वत शृंखलाएं धीरे-धीरे अपना शैशवकाल समाप्त करके विशाल हिमालय के श्वेत धवल उतुंग शृंगों के रूप में अपने यौवनकाल में प्रवेश करती हैं। बर्फीले पहाड़ों की ऊंची चोटियां प्रदेश के निचले भागों से सामीप्य का बोध कराती हुई यहां जन्म लेने वाले मानव को बचपन से ही अपने सान्निध्य में रहने का आमन्त्रण देती हैं। भारतीय पुराण-गाथाओं के समूहों की क्रीड़ास्थली होने के कारण इस क्षेत्र का इतिहास अवर्णनीय रूप से रोमांचक तथा परतदार है। हिमक्षेत्र के प्रथम प्रागैतिहासिक राजा 'युकुन्तरस' से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न योजनाओं तथा विकास के चरणों के लोक प्रचलित आख्यान यहां के लोकगीतों के सामान्य विषय हैं।

लोक साहित्य व संस्कृति की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न तथा आकर्षक भूभाग है। लोक साहित्य संकलन की दिशा में यहां उल्लेखनीय कार्य हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में लोक साहित्य से सम्बन्धित गोष्ठियों में पठित कुछ लेख सम्मिलित किए गए हैं। इनमें लोक साहित्य के क्षेत्र में अब तक किए गए प्रयासों, समस्याओं, सामग्री संकलन की अपेक्षाओं तथा लोकमानस की अभिव्यक्ति और सम्वेदनशीलता, इस साहित्य के शिष्ट साहित्य के साथ सम्बन्ध आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक का द्वितीय भाग मुख्य रूप से लोक देवी-देवताओं, प्राचीन इतिहास, चम्बा व कुल्लू क्षेत्रों के त्यौहार-अनुष्ठानों तथा प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों की परम्पराओं पर आधारित है। अकादमी द्वारा कुछ वर्ष पूर्व इस क्षेत्र की जनजातियों के इतिहास तथा परम्पराओं पर पुस्तक तैयार करने की योजना बनाई गई थी। इसके सम्बन्ध में विद्वानों से सामग्री भेजने का आग्रह किया गया था परन्तु किन्हीं कारणों से सभी प्रस्तावित विषयों पर विश्वसनीय सामग्री प्राप्त नहीं

हो पाई अतः प्रकाशन कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। उक्त योजना के अन्तर्गत प्राप्त सामग्री को इस ग्रन्थ में सम्मिलित किया गया है तथा विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत लाहुल-स्पिति, पांगी, किन्नौर के निवासियों के सम्बन्ध में कुछ सामग्री जुटाई गई है। गूजर जनजाति के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त उल्लेख है। प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से संस्कृति के कुछ ऐसे पक्षों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है जो अभी तक अपेक्षाकृत अछूते रहे हैं। यह प्रकाशन अकादमी की एक बृहद योजना 'हिमाचल ज्ञानकोश' या तृतीय पुष्प है।

इस पुस्तक का मुद्रण कार्य पर्याप्त समय पूर्व आरम्भ हुआ था परन्तु मुद्रक की कठिनाइयों के कारण यह विलम्बित रहा। मुद्रण में प्रूफ सम्बन्धी अनेक भूलों के लिए हम सहृदय पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

पुस्तक में जिन लेखकों के लेख सम्मिलित किए गए हैं, सहयोग के लिए उनका हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। इनके अतिरिक्त अकादमी के श्री रमेश जसरोटिया, श्री ओमप्रकाश चित्रकार प्रूफ शोधक श्रीमती निर्मल कौशल तथा श्री देवराज संसालवी ने भी इस पुस्तक को आकार प्रदान करने की दिशा में सहयोग दिया है, वे भी साधुवाद के पात्र हैं।

अकादमी द्वारा तैयार की जा रही अन्य पुस्तकों में संस्कृति सम्बन्धी शेष सामग्री को प्रस्तुत किया जाएगा।

प्रस्तुत पुस्तक में अनेक नए विषयों पर विवेचन हुआ है परन्तु इन में से कतिपय शोध की अधिक अपेक्षा रखते हैं अतः प्रस्तुत की गई सामग्री की प्रमाणिकता शेष रह जाती है फिर भी पाठक इस सामग्री से लाभ उठाएंगे, ऐसा विश्वास है।

डॉ० बंशीराम शर्मा
सचिव,
हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
संगरमल भवन, क्लिफ-एण्ड एस्टेट,
शिमला—171001

भाषा विज्ञान की दृष्टि से बोली जाने वाली भाषा का अध्ययन ही प्रामाणिक माना जाता है। इस दृष्टि से बोली के अधिक निकट होने के कारण लोकसाहित्य का भाषा की दृष्टि से भी महत्व स्वयंसिद्ध होता है। विद्वानों की इस विचार पर सहमति है कि 'बोली उस किसी निश्चित क्षेत्र की भाषा को कह सकते हैं जिसके बोलने के उच्चारण में, स्वर लहरी में, रूप रचना एवं वाक्य रचना में बहुत कुछ साम्य हो। बोली का यह भेद कभी कभी क्षेत्रीय भेद से हटकर जातिगत या वर्गगत होता है।' अतः किसी क्षेत्र विशेष के लोकसाहित्य के माध्यम से क्षेत्रीय बोली के अतिरिक्त जाति विशेष या समुदाय विशेष की बोली का स्वरूप भी सही–सही जाना जा सकता है। किस जाति अथवा समुदाय विशेष ने अपने वैकासिक क्रम में किस–किस भाषा, बोली आदि के शब्दों को किस ढंग से अपना कर आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। भाषा वैज्ञानिक इस मत पर सहमत हैं कि भावनाओं की सटीक अभिव्यक्ति दैनिक जीवन की भाषा में ही सभव है। अब तो लोकभाषा के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण पनप रहा है। नयी कविता में तो लोक शब्दावली, लोक मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग बढ़ रहा है। ऐसे प्रयोग से आज की कविता अभीष्ट अर्थ के संप्रेषण में पूरी तरह सफल हो रही है। वास्तव में लोकभाषा में कुछेक ऐसे उपयुक्त शब्द प्रचलित हैं जो निहित भावों के सम्प्रेषण हेतु अन्य भाषा में पर्यायवाची शब्द रूप नहीं रखते। अतः किसी क्षेत्र विशेष के लोकसाहित्य के आधार पर क्षेत्रीय बोली का स्वरूप स्पष्टतः उभर कर सामने आएगा और इसी माध्यम से क्षेत्र विशेष की किसी एक भाषा के रूप को निश्चित करने, शब्दों के मानकीकरण में पर्याप्त सहायता एवं सही दिशा मिल सकती है। समग्रतः लोकसाहित्य में भाषापूरक अध्ययन की व्यापक संभावनायें निहित हैं। लोकभाषा की अक्षय निधि शिष्ट साहित्य का सबल आधार बनने की पूर्ण सभावनायें रखती है।

यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि हिमाचल के लोकसाहित्य के माध्यम से स्थानीय बोलियों का सर्वेक्षण, शब्द रूपों का संग्रहण,

संकलन, उनका क्षेत्र, उनके विभिन्न रूपों के आधार पर बोलीगत भाव चित्रावलियां, बोलियों की विशिष्ट शब्दावली बोली कोश निर्माण, लोकोक्तियों–मुहावरों–कहावतों का संग्रह तथा लोक निरुक्ति के आधार पर निरुक्ति शास्त्र तैयार किया जा सकता है। ऐसे प्रयास से हिमाचल की भाषा के आगे लगा प्रश्नचिन्ह स्वतः हट सकता है अतः आवश्यकता है यहां के लोक साहित्य के संग्रहण, संकलन, संपादन, प्रकाशन की। यह प्रयत्न जितनी जल्दी, जितना सही दिशा में होगा, हिमाचली भाषा का स्वरूप उतनी ही शीघ्रता से स्पष्ट उभर कर हम सब के सामने आएगा।

प्रो० तिलकसिंह के अनुसार 'लोक साहित्य के अध्ययन से साहित्य के तत्वों की प्रकृति तथा प्रकार्यता का ही मूल्यांकन संभव नहीं है अपितु अन्तर्विधायिनी विषयों का स्वरूप-परिज्ञान भी संभव है। लोकसाहित्य के अन्तर्विधायी मूल्यांकन से समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति तथा मनोविज्ञान आदि अनेक साहित्येत्तर विषयों की प्रकृति तथा संरचना का पता ही नहीं चलता अपितु भाषेतर विषयों–समाज, राजनीति तथा मनोविज्ञान आदि की प्रकृति, प्रकार्यता तथा संरचना का भी ज्ञान होता है। अन्तर्विधायी दृष्टि से भाषाविज्ञान के निम्न–लिखित अध्ययन-क्षेत्र हो सकते हैं :—

(1)–समाज तथा भाषा विज्ञान, (2)–मनोभाषा विज्ञान, (3)–राजनीति भाषा विज्ञान आदि। इस प्रकार अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से लोकसाहित्य तथा भाषा विज्ञान पर्याप्त साम्यता रखते हैं। ऐसा लोकसाहित्यकों का मत है।

घ---सभ्यता का संरक्षक :

लोकसाहित्य हमारी सभ्यता का संरक्षक है। डॉ० वेरियर एल्विन ने छत्तीसगढ़ के लोकगीतों की भूमिका में मध्यप्रदेश की करमा नामक जाति के लोकगीत की पंक्ति का आशय यूं लिखा है— 'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो, तो मेरे

गीतों को सुनो।' हिन्दी साहित्य की मूमिका, पृ० 130 पर आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के ये शब्द भी इस दिशा में उद्धरणीय हैं—
'ग्राम गीत का महत्व उनके काव्य सौंदर्य तक सीमित नहीं हैं। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है कि एक विशाल सभ्यता का उद्‌घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के गर्त में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। आर्य आगमन के पूर्व ही समृद्ध आर्येतर सभ्यता भारतवर्ष में फैली हुई थी, उसके साथ ही और भी छोटी–छोटी सभ्यतायें इस विशाल भू–भाग में फैली हुई थीं। आर्यों ने राजनीतिक रूप में तो भारतवर्ष को जीत लिया था पर वे सांस्कृतिक रूप में पूर्ण रूप से यहां के मूल निवासियों के द्वारा प्रभावित हो गए थे। यहां की मूल सभ्यता वैदिक सभ्यता से एक दम भिन्न थी और आज भी लोकाचार, स्त्री–आधार पौराणिक परम्परा आदि के रूप में वह विद्यमान है। ग्रामगीत इस सभ्यता के वेद हैं।'' लोकगीत का महत्व मोनहजोदड़ो से कहीं अधिक है। मोहनजोदड़ो सरीखे भग्न स्तूप ग्राम गीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।''

लोकगीतों की भान्ति लोक कथायें, लोकगाथायें, लोकनाट्य कहावतें आदि भी सम्प्रदाय विशेष अथवा जाति विशेष की सभ्यता के कोष हैं। इनके माध्यम से उनकें जीवन के अनेक पक्ष उद्‌घटित होते हैं, उनके व्यवहारिक जीवन, का सच्चा अंकन मिलता है। उनके सभ्यचारिक जीवन को सोचने, समझने के अवसर मिलते हैं।

लोकसाहित्य पुरातनता का पर्याय नहीं। लोकतत्व सनातन है। वह आधुनिक जीवन में भी वर्तमान है। फलतः लोकसाहित्य भी प्राचीन स्वरूप में संभावित परिवर्तन लेकर नित्य प्रति नए रूपों में सर्जित हो रहा है। अतः आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में भी लोकसाहित्य के महत्व को नकारा नही जा सकता। लोकसाहित्य कालजयी है। इसकी परिवर्तनधर्मी प्रकृति युग–परिवर्तनों को स्वीकार कर, उन्हें अपनाकर, आत्मसात कर अपने अक्षुण्ण अस्तित्व को सदा बनाए हुए हैं, और भविष्य में भी बनाए रखेगी, अधिकांश विद्वानों का ऐसा मत है, निजी अनुभूति भी है।

ङ---शिक्षापद्धति हेतु सफल एवं श्रेष्ठ माध्यम :

लोकसाहित्य वर्तमान शिक्षा पद्धति हेतु सफल एवं श्रेष्ठ माध्यम है। ऋषिमुनियों द्वारा राजपुत्रों को कथाओं के माध्यय से राजनीति के गूढ़ एवं रहस्यमयी ज्ञान को संप्रेषित करने के उदाहरण मिलते हैं। पंचतंत्र एवं हितोपदेश की कहानियां इस दिशा में सबल संकेत हैं। लोकसाहित्य में लोककथाओं का अथाह भंडार पड़ा है। उन कथाओं, लोकगीतों तथा लोकगाथाओं के सही प्रयोग से आधुनिक शिक्षा पद्धति में परिवर्तनकारी सुधार लाया जा सकता है।

च---लोकसाहित्य का प्रतीकात्मक महत्व

समाज में मनुष्य की आर्थिक स्थितियों का रुपायन भी लोक-साहित्य में बड़ी पैनी दृष्टि से हुआ है। विश्व भर का मानव दो वर्गों में बटा रहा, सामन्ती एवं पीड़ित। सामन्तों के लौह-श्रृखंला बद्ध शिकंजों में कसा मनुष्य पीड़ित तो रहा, परन्तु उसने अपने दुख-दर्द की सहायता की प्रार्थना करना सदैव व्यर्थ समझा। यदि कभी उसने सहानुभूति एवं संवेदना का आवरण ओढ़कर सामन्त के सामने अपना दुख दर्द कह-सुनाकर आंचल पसारा भी तो उसे भर्त्सना, खिल्ली उड़ाने, ठहाके भरी हंसी के अतिरिक्त और कुछ न मिला। अन्तत: उसने यह निष्कर्ष निकाला कि शोषित की सहायता शोषित ही कर सकता हैं। यह भावना विश्व लोकसाहित्य में 'चिड़िया और कौवे' की कहानी के माध्यम से अनेक देशों में प्रचलित मिलती है। इस कथा में व्यंजित चिड़िया-बरगद के वृक्ष, राजा-रानी, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, अग्नि, समुद्र, हाथी-(सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं-सामन्ती व्यवस्था के पोषक तथा समर्थकों) के पास पहुंचती है,परन्तु निराशा ही हाथ लगती है। अंतत: धूल में रेंगने वाली चींटी उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ती है और सारी सामन्ती व्यवस्था शोषित समाज (चिड़िया एवं चींटों) के समक्ष घुटने टेक देती हैं।[1] वर्तमान संदर्भ में मजदूर एकता का मूल मंत्र है। शोषित ही शोषित के दुख-दर्द जान सकता है। इस

1-संदर्भ : लोकसाहित्य : कुरुलोक संस्थान मेरठ का विशेषांक

सत्य को यह कथा सहज ढ़ंग से निरुपित करती है। अतः लोकसाहित्य में परंपरित ऐसे तथ्यों को वर्तमान के संदर्भ से जोड़ते हुए उद्घाटित किया जा सकता है।

☐ **निष्कर्ष :**

विविध दृष्टियों से लोकसाहित्य का महत्व प्रतिपादित करने के पश्चात् हम इस निर्णय पर एकमत हो जाते हैं कि इस अमूल्य साहित्य-संपदा का संग्रहण, संकलन एवं प्रकाशन समय रहते होना निहायत जरूरी है। यदि आधुनिकता के प्रभावों में विलीन, विस्मृत होते इस परंपरित ज्ञान को संभाला न गया तो हम एक अमूल्य अनुपलब्ध पाती से वंचित हो जाएंगे, अपनी परंपरा से अलग पड़ जाएंगे, अतीत से कट जाएंगे।

☐ **लोकसाहित्य के संग्रहण, संकलन एवं प्रकाशन के इतिहास का आरंभ :–**

अब तक उपलब्ध लोकसाहित्य ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय लोकसाहित्य के सर्वेक्षण, संग्रहण, सपादन, प्रकाशन तथा अध्ययन का आरंभ दो वर्गों द्वारा हुआ—

(i) अंग्रेज प्रशासक वर्ग, जो भारत में प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त सग्रह तथा आलोचना की दृष्टि से लोक-संस्कृति तथा लोकसाहित्य को महत्व देता रहा। दूसरे—

(ii) ईसायत के प्रचारक, जो अपने धर्म प्रचार के लिए स्थानीय बोलियों, लोकसंस्कृति रूपों तथा लोकसाहित्य का ज्ञान प्राप्त कर उसे प्रकाशित करते रहे, साथ ही उनके उद्देश्य की पूर्ति भी होती रही।

सभी विद्वान इस विचार पर एकमत हैं कि भारतीय लोकसाहित्य के संकलन, प्रकाशन, अध्ययन का कार्य अंग्रेज प्रशासकों द्वारा हुआ। (संदर्भ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग–16 तथा डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय का 'लोकसाहित्य की भूमिका) । यूरोप में समाजशास्त्र विज्ञान एवं पुरातत्व आदि विषयों का अध्ययन करते समय लोकवार्ता एवं लोकसाहित्य की ओर पर्याप्त रुचि विद्यमान थी और उस वाता–

वरण में शिक्षा प्राप्त करके आए अंग्रेज अधिकारियों की रुचि यहां की बोलियों, रीति-रिवाजों, मेलों, त्यौहारों तथा लोकसाहित्य के विविध रूपों के ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत्त हुई। यह निष्कर्ष इस विषय पर हुए कार्यों के ऐतिहासिक विवरण से स्वतः सिद्ध होता है। भारतीय लोकवार्ता के संकलन, संपादन तथा प्रकाशन का आरंभिक कार्य कर्नल टॉड द्वारा किया गया। 'ऐनल्स एण्ड ऐंटिक्वीटीज़ आव राजस्थान', लोकवार्ता अनुसंधान क्षेत्र में मील पत्थर है।[1] तदनंतर जे० ऐक्ट, सर रिचर्ड टैम्पुल, सर ग्रियर्सन, विलियम क्रुक, आर० एम० लाफमैस, ई० थर्सटन, डब्ल्यू० डी० डेम्स आदि विद्वानों ने दक्षिण भारत, राजस्थान, पंजाब, बंगाल तथा उत्तरभारत के विभिन्न जन-पदों की लोकसंस्कृति के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जो भारतीय विद्वानों के लिए प्रेरक एव मार्ग दर्शक सिद्ध हुई।[2]

भारतीय विद्वानों में लोकसाहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वालों में 'तारूदत' अग्रणी हैं।[3] तत्पश्चात लालबिहारी डे, नरेश शास्त्री, दिनेशचन्द्र सेन, शरदचन्द्र राय, सूर्य करण पारीक, झवेर मेघाणी रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० सत्येन्द्र, डा० श्याम परमार आदि विद्वानों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में इस दिशा में स्तुत्य कार्य करने के संकेत मिलते हैं।[4] कालांतर में हिन्दी की विभिन्न बोलियों-अवधी ब्रज, राजस्थानी, भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढी, हरियाणवीं, पंजाबी आदि में संकलन

1-डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोकसाहित्य की भूमिका।

2-हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-16 तथा वही.

3-वही.

4-वही.

संपादन तथा शोध काय के निरंतर प्रयास सामने आए हैं ।[1]

इसी परंपरा में पहाड़ी बोलियों के लोकसाहित्य में भी संकलन, संपादन तथा अध्ययन कार्य आरंभ हुग्रा । गढ़वाली,[2] कुमाऊनी[3], कश्मीरी[4], डोगरी[5], किन्नौरी[6], कांगड़ी[7], सिरमौरी[8] मंडयाली[9], चम्बयाली[10], महासुबी[11], बिलासपुरी[12] के संग्रहण, प्रकाशन तथा शोध के स्तुत्य प्रयास सामने आए हैं । प्रादेशिक सरकारों द्वारा एवं केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित अकादमियों[13] भाषा-संस्कृति विभागों तथा विश्व विद्यालयों में इस विषय के आरंभ होने से इसके अध्ययन एवं शोध-अनुसंधान की संभावनायें व्यापक बनी, महत्व बढ़ा है । इस प्रयास के बीज रूप ग्रंग्रेज प्रशासकों द्वारा संपादित ज़िला गज़ेटीयर्स में उपलब्ध होते हैं ।

1-वही

2-डा० गोविन्द चातक : गढ़वाली लोकगीतों का सांस्कृतिक ग्रध्ययन, 1968.

3-दे० हिन्दी साहित्य का वृ० इतिहास तथा शैलेश मटियानी- बेला हुई अवेर.

4-मोहन कृष्ण दर : कश्मीर का लोकसाहित्य. 1963

5-डा० पदमचन्द कश्यप : कुल्लुई लोकसाहित्य (शोध प्रबंध), श्रीलाल चन्द प्रार्थी, श्री एम. ग्रार. ठाकुर के नाम उल्लेखनीय

6-डॉ० बंशीराम शर्मा : किन्नर लोकसाहित्य (शोध प्रबंध)

7- (क) इस भाषा के लोकसाहित्य का प्रथम संक्षिप्त संकेत श्री शम्मी शर्मा द्वारा दिया गया है जो हिन्दी साहित्य का इतिहास भाग-16 में संकलित है ।

(ख) डा० एम. एस. रन्धावा, कांगड़ा के लोकगीत

(ग) डा० गौतम व्यथित : (1) कांगड़ी लोक गीत भाग-1 (2) झूमे धरती गाए लोक (3) ढोलरू (4) पहाड़ां दे अत्थरू (5) कागज़ का हंस, (6) राजकुमारी और तोता (7) नौ-लखियाहार (8) कांगड़ा के लोकगीत : साहित्यिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन (शोध प्रबंध) 1974, (9) हिमाचल प्रदेश लोक-सस्कृति ग्रौर साहित्य (ने. बु. ट्र.) (10) कांगड़ा : इतिहास संस्कृति एवं विकास तथा चार संग्रह संपादित

☐ **संग्रहण : संकलन संबन्धी समस्यायें :**

लोकसाहित्य संग्रहण एवं संकलन कार्य सहज सुगम नहीं। निश्छल भावों का स्वच्छन्द प्रवाह नैसर्गिक एवं स्वतन्त्र तथा असीम है। स्वतः आनन्द, स्वान्तसुखाय लोक सम्पदा को पृथ्वी पुत्रों से ग्रहण करना, लिखवाना, सरल नहीं है। अपनी परंपरा की सनातनता, जीवन्तता बनाये रखने के प्रति लोकमानस सदैव जागरूक एवं चेतनशील रहा है। अत: इस दिशा में उपलब्ध तथा निजी अनुभव के आधार पर कुछ समस्यायें यूं गिनाई जा सकती हैं :—

1. स्त्रियों में पर्दाप्रथा का प्रचलन तथा उनका संकोची स्वभाव।
2. लोकसाहित्य रुपों को कहने, सुनाने की परंपरा अधिकांशत: समूह में, मण्डली रूप में मिलती है ऐसा अनुभव में आया है कि लोक-गाथा का एक भाग एक गायक को स्मरण है, तो दूसरा किसी दूसरे को और इसी प्रकार तीसरा किसी तीसरे को।
3. परंपरित लोक गायकों, लोक कथाकारों, प्रहेलिकायें, बुझारतें, कहावतें सुनाने-कहने वालों का क्रमिक अभाव हो रहा है। अत: इनके सही, मूल रूप पाने के अवसर कम होते जा रहे हैं। लोकसाहित्य के किसी रूप को प्राप्त करने के लिए काफी समय

(घ) ओमप्रकाश प्रेमी : स्वाद बखरे-बखरे (कहावतें)
(ङ) शेष अवस्थी-स्हे ढ़यो फुल (लोक कथायें)
(च) हरिकृष्ण मुरारी : मीठी यादें (II)
(छ) डा० शम्मी शर्मा पर्वती (निबंध संग्रह)
(ज) स्वर्ण प्रेम : अप्पू चले परदेस-लोकगीत संग्रह

8-डा० खुशीराम गौतम का शोध प्रबंध, डा० हरिराम जसटा के नाम उल्लेखनीय हैं।

9-डा० कांशीराम आत्रेय का शोध प्रबंध तथा श्री कात्यायन का मंडयाली लोकसाहित्य.

10-हरिप्रसाद सुमन द्वारा दिया गया प्रथम प्रयास हिन्दी साहित्य का इतिहास भाग-16 में संकलित है।

11-डा० हरिराम जसटा के कार्य उल्लेखनीय हैं।

12-डा० श्रीराम शर्मा : बिलासपुर जनपद के लोकसाहित्य का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन

देना पड़ता है। साथ ही परंपरित वातावरण का भी ह्रास हो रहा है।

4. गांवो में भी अब अलाव के आगे बैठकर कथा-कहानियां सुनाने, प्रेहेलिकायें डालने, शरद् ऋतु में रात को देर तक बैठकर गीत, गाथायें सुनने-सुनाने की स्थितियां शून्य होती जा रही हैं। रेडियो, ट्रांजिस्टर, सिनेमा ने सारे अवसर लूट लिए हैं। अतः अब तो लोकसाहित्य संग्रहण के लिए संबंधित व्यक्तियों की तलाश भी एक शोध का विषय बन गया है।

5. लोक गायकों, कथाकारों तथा नाट्यकारों की स्वाभाविक या पैतृक संदेहशील वृत्तियां एक बड़ी समस्या है। अतः उनमें अपने परंपरित ज्ञान को बताने की बजाए टालमटोल करने की बड़ी आदत है। परिणाम स्वरुप संग्रहकर्ता को सब्र से काम लेकर उन्हें समझा-बुझा फुसलाकर कुछ सुनाने के लिए राजी करना पड़ता है।

6. संग्रहकर्ता के प्रति उसके ज्ञान का शोषण करने, उससे कोई विशेष लाभ होने की संभावना की आशंका के कारण वे कुछ भी नहीं जानने का बहाना बनाकर टालमटोल करने लगते हैं। साफ-साफ मुकर जाते हैं।

7. लोक में निजी ज्ञान को गुप्त रखने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है।

8. वृद्ध लोक गायकों, लोक कथाकारों। लोक नाट्यकारों में स्वर, अक्षराघात तथा पाठान्तर भेद की अधिकता के कारण लोक-साहित्य के प्रचलित तथा सही स्वरूप को पकड़ने में कठिनाई होती है।

9. सुबिधा-सम्पन्न विदेशी अनुसंधान कर्ताओं के उदार एवं अवसर-वादि दृष्टिकोण के कारण लोक गायकों, लोक कथाकारों नाट्य-नृत्य नर्तकों में आर्थिक वृति का विकास संग्रहकर्ता के लिए एक विशेष समस्या बन गई है।

10. लोकसाहित्य का संबन्ध अवसर विशेष यथा पर्व त्यौहार, पूजा-जातरा, श्रम-विश्राम, बिजाई-निराई, मेले-ठेले, ऋतु परिवर्तन, जन्म-विवाह, ब्रतानुष्ठान आदि से है। समग्र लोकसाहित्य की एक परंपरा है। जैसे कथायें सर्दियों में ही सुनी-सुनाई जाती हैं,

ढोलरू चैत्र मास में ही गाऐ–सुनाए जाते हैं । अवसर से आगे पीछे सुनाने का आग्रह एक तो निष्फल ही रहता है, कुछ बने भी तो सन्तोषजनक नहीं रहता, विस्मरण का बहाना सुनने को मिलता है ।

11. इसके संग्रह हेतु विशेष वातावरण या प्रेरणा की आवश्यकता मूल रूप में है। लोक गायकों द्वारा पेयपदार्थ पान करने की इच्छा व्यक्त की जाती है। अन्यथा मूड नहीं बनता ।
12. लोक द्वारा लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा को क्रमिक रूप में सुना पाने की असमर्थता, बीच में कोई प्रश्न करने की स्थिति में पुनः आरंभ से बात शुरू करने की प्रवृति, संग्राहक के मन्तव्य तक पहुंचने की असमर्थता भी विशेष समस्या कही जा सकती है ।
13. सर्वहारा तथा श्रमिक वर्ग में जातिगत संदेह प्रवृत्ति के कारण अपने पारिवारिक गीत–गाथाओं एवं कथाओं की सही जानकारी देने में टालमटोल करना, विस्मरण का बहाना लगाना । अतः उन्हें कुछ सुनाने के लिए तैयार करने हेतु घण्टों नष्ट करने पड़ते हैं, कभी खाली भी लौटना पड़ता है ।
14. ऐसे वर्ग गायकों में यह भी भय बना रहता है कि इतनी जांच पड़ताल करने का अर्थ शायद हमारे विषय में सरकार से कुछ लिखा–पढ़ी करने की कोशिश हो, दफ्तर–कचहरी के चक्कर लगाने पड़े, ये सारी शंकायें इन्हें चुप रहने को मजबूर करती हैं ।
15. लोकगायक, लोककथाकार लोकसाहित्य रूपों को सुनाते समय विस्मरण की स्थिति में अपनी और से प्रसंगानुसार जोड़ता जाता है, परिणामतः प्रक्षिप्तांश की संभावना बढ़ जाती है, अतः संग्रह–कर्ता के लिए उसका सही रूप तलाशने, प्राप्त करने में भी पर्याप्त प्रयत्न करना पड़ता है । अथवा इसका सीमाँकन, मानकीकृत रूप प्राप्त करने, इस का भावसौंदर्य एवं सनातनता बनाए रखना एक ज्वलन्त समस्या है । इस प्रक्रिया में गुज़रते कुछ गीतों की आरंभिक पंक्तियाँ ही रह गई हैं, शेष सारा बदल गया है ।
16. शिक्षा के बढ़ते प्रचार–प्रसार ने मनुष्य की आदिम स्वच्छ, सहज निष्कपट, निष्पक्ष वृत्तियों के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, उपेक्षा आदि की मनोवृत्तियां जन्मा दी हैं अतः अब दिन प्रति दिन

यह कार्य और भी समस्यापूर्ण बनाया जा रहा है।

17. संभावित या आवश्यक साधनों एवं माध्यमों का अभाव भी मूल समस्या है।

☐ **प्रकाशन समस्यायें :**

1. बौद्धिक वर्ग का लोकसाहित्य के प्रति बना उथला दृष्टिकोण इसके प्रकाशन की पहली समस्या है।
2. लोकसाहित्य संबन्धी प्रकाशन की खपत न हो पाना दूसरी समस्या हैं।
3, लोकसाहित्य का मूल रूप, लोकभाषा, उपभाषा या बोली में है, मनुमानस उसे सीखने, पढ़ने, लिखने या बोलने में घटियापन या पिछड़ापन समझता है। अतः पाठकों की यह धारणा प्रकाशकों को प्रेरित नहीं करती।
4. प्रकाशक लोकसाहित्य की पाण्डुलिपि को देखते ही मुंह सिकोड़ने लगता है। प्रकाशित करने की स्थिति में एहसान करने का दावा करता है ताकि संग्राहक का मुंह सदैव बन्द रहे।
5. कुछ लोकसाहित्य संग्रह करने वालों ने (हिमाचल के संदर्भ में) निजी स्तर पर प्रयास किए हैं, परन्तु मुद्रण एवं प्रकाशन के आज के माहौल में वे कहीं भी नहीं ठहरते, अतः पाठक उसे मुफ्त में हड़पना चाहते हैं।
6, प्रादेशिक भाषा–सस्कृति ने प्रकाशन समस्या को कुछ स्तर पर हल करने की योजनायें कार्यान्वित की हैं, परन्तु सहायतानुदान की राशि इतनी कम है कि लेखक उसे बढ़ियास्तर की नहीं छपवा सकता। आवरण का आकर्षण पुस्तक की आज की बड़ी जरुरत है जो लोक संग्रह के वश की बात नहीं।
7. शिक्षा विभाग द्वारा या दूसरे विभागों द्वारा ऐसी पुस्तकों को प्राथमिक स्तर पर खरीदने की योजना नहीं अतः पुस्तकों को स्टोरेज में दीमक काटती है। शिक्षा विभाग हि.प्र. ने कुछ ऐसे संकेत जरुर दे रखे हैं, परन्तु उनका पालन कुछ मित्रभाव वाले ही करते हैं।

□ **समाधान :**

-- लोक–पर्वों के उपयुक्त एवं सही वातारण का उचित लाभ उठाया जाऐ । ऐसे अवसर पर टेपरिकार्डर का प्रयोग कर अधिकाधिक सामग्री संगृहीत की जा सकती है।

—लोक–कथन का स्वाभाविक प्रवाह जो बीच में प्रश्न करने पर या रुक–रुक कर लिखवाने, बताने पर टूट जाता है, इस समस्या को भी टेपरिकार्डिंग द्वारा दूर किया जा सकता है।

—इसमें एक मनोवैज्ञानिक आधार भी है कि लोक जो भोले स्वभाव का होता है, अपनी आवाज़ को यंत्र के माध्यम से सुनकर फूला नहीं समाता, वह इसी खुशी में कि उसकी आवाज़ जगह–जगह सुनाई देगी, वह अधिकाधिक बातें बताने, गीत, गाथा, कथा सुनाने की कोशिश करता है। यदि संग्रहकर्ता बीच–बीच में यह भी बोल दे कि अमुक व्यक्ति, अमुक स्थान के निवासी से कुछ सुनिये तो वह और भी व्यथित होता है।

—इस माध्यम से विभिन्न व्यक्तियों से, विभिन्न स्थानों पर रिकार्ड की गई सामग्री को बार–बार सुनने से हम उस गीत, गाथा या कथा का मानकीकृत रुप ढूंढ पाने में समर्थ हो सकते हैं।

—लोकभाषा के शब्दों, वाक्यों को लोकमुख से सुनकर इनके भाषा वैज्ञानिक अध्ययन हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होगी।

—संग्राहक को मनोविज्ञान का बोध होना चाहिए ताकि वह लोक की स्थिति, अवसर, रुचि तथा वृत्ति को समझ कर अपने उद्देश्य में सफल हो सके।

—संग्राहक लोक में यह विश्वास पैदा करे कि उसकी दी हुई सामग्री उसी के नाम से प्रकाशित या प्रयोग में लाई जाएगी।

— संकलन की प्रक्रिया वैज्ञानिक होनी चाहिए।

—संग्राहक, संकलक को संग्रहण तथा संकलन की वैज्ञानिक प्रणाली से सही तरह से परिचित होना चाहिए।

—लोकमन में बनें 'शोषण के भाव' को सही ढंग से विश्लेपित कर दूर किया जाए।

—आदिम क्षेत्रों या दूरस्थ क्षेत्रों में इस उद्देश्य से कार्य करने वाले विद्वानों को प्रदेश सरकार, भाषा विभाग अथवा कला, संस्कृति तथा भाषा अकादमी आर्थिक सहायतानुदान देने का प्रावधान करे, ताकि इसदिशा में कार्यरत लोगों का मनोबल बढ़े, उनकी रुचि का विकास हो। संभावित एवं उचित तरीकों से लोक गायकों / कथाकारों का मूड बना सकने में सफल हो सके।

—संग्रहण में यह भी ध्यातव्य है कि क्या, कहां, कितना संगृहीत करना है, उपयोगिता एव महत्व की दृष्टि से ।

—संग्राहक के मन में ऐसे साहित्य का संग्रहण, संकलन एवं प्रकाशन करते समय मन में किसी ईर्ष्या, द्वेष आदि का मलिन भाव न हो । लोकसाहित्य की परंपरा का सनातन स्वरूप रखा जाए। अपनी ओर से कुछ भी न देकर उसे प्रदूषित न किया जाए।

—लोकसाहित्य के प्रकाशन की दिशा में सब से भयंकर समस्या यही है कि प्रकाशक इसे उठाता ही नहीं। यदि कोई कार्य किसी प्रभावी माध्यम से उस पर थोप ही दिया जाए तो वह मजबूरन करता है, बला टालता है। अतः प्रथम समाधान तो यही है कि ऐसे संकलनों को प्रादेशिक भाषा–संस्कृति विभाग अथवा अकादमियां स्वयं प्रकाशित कर संग्राहकों को उचित रायल्टी देने का प्रावधान करे और प्रकाशित साहित्य को विभिन्न सरकारी गैर सरकारी पुस्तका–लयों, अध्ययन केन्द्रों तक वितरित करे ताकि पाठक तक वह साहित्य पहुंचे, उसको समझने के उन्हें अवसर मिलें, अपने साहित्य तथा संस्कृति के प्रति भावात्मक एवं सांस्कृतिक स्नेह एवं आकर्षण बन सके।

—अथवा प्रादेशिक भाषा–विभाग या अकादमियों द्वारा ऐसे प्रकाशनों के लिए समुचित सहायतानुदान दिया जाए जिससे संग्राहक उसे स्वयं प्रकाशित कर सस्ते मूल्य पर पाठक तक पहुंचाने में स्वयं सहायक हो सके। अकादमियां उन प्रकाशनों को थोक में खरीद कर यदि विभिन्न सरकारी संस्थानों तक पहुंचाये तो संग्राहकों में, लोकसाहित्य के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं में प्रेरणा एवं रुचि के विकास के साथ इसमें सुरुचिपूर्ण प्रतिबद्ध कार्य करने की संभावनायें निश्चित ही बढ़ सकती हैं। यदि संगृहीत लोकसाहित्य पाण्डुलिपियों

में पड़ा गलता–सड़ता रहा तो उस श्रम एवं समय–साधना का कोई अर्थ नहीं होगा । अथवा इस दिशा में कार्यरत स्वैच्छिक संस्थायें या साहित्कारों का संगठन मिलकर किसी सहकारी प्रकाशन का आरंभ करें, जिसे सरकारी सहायतानुदान प्राप्त हो और उसके प्रकाशनों को सरकार द्वारा थोक खरीद करने की व्यवस्था हो, मूल्य में सस्ता हो तो प्रकाशन संबन्धी समस्या किसी सीमा तक हल हो सकती है ।

—लोक साहित्य का विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन विषय रूप में आरंभ इसके महत्व एवं पहचान बढ़ाने में सराहनीय पग होगा कुछ विश्वविद्यालयों में ऐसा हुआ भी है ।

● समग्र रूप में प्रस्तुत बिषय अपनी मूल प्रकृति में एक बिखराव लिए मेरे मस्तिष्क में पूर्ण बिम्ब बनाने में असमर्थ रहता हुआ भी किस सीमा तक उसका स्वच्छ बिम्ब उभार पाया है या इस इसकी मूल संवेदना को स्पष्ट कर सका है, यह निर्णय पाठक श्रोताओं पर निर्भर है। परन्तु इसकी मूल चेतना यह सोचने पर मजबूर जरुर करती है कि लोकसाहित्य का संग्रहण, संकलन, प्रकाशन आज के हर परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण ठहरता है साथ ही यह एक समस्या भी है, जीवन्त आवश्यकता भी । यदि आज हम इसके प्रति चेतनशील नहीं बने तो यह परम्परित अमूल्य धरोहर काल कवलित हो जाएगी । हम लोक वेद से वंचित हो जाएंगे । अत: इस क्षेत्र में कार्यरत लोगों को यथा संभव सहयोग, सहायता, प्रोत्साहन, पहचान मिलनी ही चाहिए तथा इस संपदा का संग्रहण, संकलन, प्रकाशन एवं अध्ययन संभव हो सकेगा इस दिशा में कार्य करने की एक स्वस्थ परम्परा बन सकेगी ।

हिमाचल प्रदेश का लोकसाहित्य
उपलब्धियाँ एवं संभावनायें

II ■ विवेच्य विषय क्षेत्र: पृष्ठभूमि :--

हिमाचल प्रदेश एक पहाड़ी प्रदेश है। स्वतन्त्रा से पूर्व यहां अनेक छोटी-बड़ी रियासतें थीं। वर्ष 1948, में उन रियासतों को मिलाकर हिमाचल बना। उस समय इसका क्षेत्रफल 10,600 वर्गमील था और आबादी 9,35000 के करीब। 1966 में भाषाई के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर पंजाब तथा होशयारपुर जिलों के क्षेत्र-कांगड़ा कुल्लू लौहोल स्पीति,ऊना,नालागढ़-इसमें जुड़े,परिमाणतः विशाल हिमाचल अस्तित्व में आया। अब इसका क्षेत्रफल और आबादी पहले से लगभग दुगने हैं।

इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बड़ी रोचक एवं रोमांच भरी है। आदि मानव का निवास यहीं बताया गया है। आर्यो से पूर्व कोल,किरात नाग, यक्ष, किन्नर यहीं के निवासी थे। राजा दिवोदास ने आर्यो के विरुद्ध अनेक युद्ध लड़े, ऐसे विवरण मिलते हैं। अनेकों पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यान इस प्रदेश की पौराणिक एवं ऐतिहासिक परम्परा की साक्षी भरते हैं। अतः यहां के लोकमानस का अध्ययन रोचक एवं जिज्ञासापूर्ण है।

वर्ष 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की मूल चेतना स्वतन्त्रता की संवेदना, धरती को परतंत्रता से मुक्त करने की निष्ठा का संकल्प इस क्षेत्र ने लिया, फलतः भारतीय मानसिकता से रिश्ता जोड़ कर उस यज्ञ में पूरा-पूरा योगदान दिया। परिणामतः 1876, 1880, 1895, 1930 के मध्य अनेक ऐसी घटनायें घटीं, जिस में कई स्वतन्त्रता संग्रामियों ने

अपनी आहुतियाँ दीं, प्रदेश के इतिहास को राष्ट्रीयता से जोड़ा।

पूर्वकाल में यहां छोटे-छोटे राज्य होने के कारण, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, यातायात, संचार आदि की सुविधायें सीमित थीं। पहाड़, नदी-नाले, मार्गों की दुर्गमता एक क्षेत्र को दूसरे से अलगाए थी। परस्पर मिलने तथा विचार, भावना, धर्म, संस्कृति, भाषा, लोकाचार के आदान प्रदान की संभावनाओं का दम घुटता रहा लोकधर्मी मान्यतायें, मनोरंजन, विश्वास, वेशभूषा तदनुरूप पलते रहे। अतः हर क्षेत्र एक पृथक इकाई में पनपता रहा, जिसके संकेत आज भी हिमाचली जनजीवन में सहजता से दृष्टिगोचर होते हैं।

यहां की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, अनुष्ठानिक, व्यवसायिक हर प्रकार की परम्परा में एकता, सहयोग भाईचारा, सहानुभूति दृष्टिगोचर होती है। गांव अथवा जनपदीय जीवन में सहयोग की भावना थी। हर प्रकार का कार्य एक अनुष्ठानिक ढंग से किया जाता फलतः गांव में परस्पर जुड़ने, वतियाने, नाचने, गाने, नाट्य आदि मंचित करने की व्यापक संभावनायें बनती। इसी प्रक्रिया में सहज रूप से लोकसांस्कृतिक परम्परायें बल पाती रहती और सहज प्रसार, पुनरावृत्ति, अनुसरण, संप्रेषण, ग्रहण, सृजन के अवसर पातीं। इसी धारा के प्रवाह में यहां का लोक साहित्य हर दिशा में समृद्ध बनता रहा पहाड़ों, नदियों, शिखरों-गहारों से घिरा हिमाचल का हर क्षेत्र स्वयं में एक पूर्ण सांस्कृतिक द्वीप (**Cultural Island**) बनता गया साथ ही एक भाष-द्वीप (**Linguistic-Island**) भी।

प्रस्तुत अध्ययन की अपेक्षा को मुख्य रखकर पूरे प्रदेश की भौगोलिक स्थिति को दो भागों में रखा जा सकता है —

(i) रोहतांग के इस पार के क्षेत्र,

(ii) रोहतांग के उस पार के क्षेत्र।

जैसे हिमालय अपनी विशालता, अखण्डता, सम्पन्नता, महानता, गंभीरता, सहनशीलता, कर्मठता, बज्रता के लिए एक उदाहरण है।

प्रतीक है वैसे ही इसके आंचल में बसने वाली मानवीय जातियों, समुदायों, कबीलों की जीवन पद्धति भी उतनी ही विशेषतायें लिए है। स्वतन्त्रता से पूर्व या विकासकाल से पूर्व इन क्षेत्रों के 'लोक' का जीवन चिन्तन, व्यवसाय, संस्कृति सब कुछ भिन्न सा रहा, विविधता पूर्ण सीमान्ती जीवन से एक दम अप्रभावित। पूर्णतया उज्जवल, सनातन एवं सत्य। प्रकृति से एक दम जुड़ा हुआ, समझौता किए हुए। फलतः उसके लोकधर्म, भाषा, लोकाचार, मनोरंजन के पृथक आयाम रहे। हिमालय की तराई के, क्षेत्र समतली होने के कारण सीमान्ती प्रभाव लिए रहे। फलतः वहां का लोक जीवन, भाषा, संस्कृति पर इतिहास अपने प्रभाव अंकित करता रहा, जो उसके सांस्कृतिक रूपों, भाषा, व्यवहार एवं चिन्तन में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होते हैं।

उपरोक्त प्रभावों के कारण ही आज इस प्रदेश में लोकसाहित्य को इस प्रकार नाम दिए जाते हैं —

1— किन्नर लोकसाहित्य
2— कांगड़ी लोकसाहित्य
3— चम्बयाली लोकसाहित्य
4— भरमौरी लोकसाहित्य
5— लाहौली लोकसाहित्य
6— स्पीति लोकसाहित्य
7— कहलूरी लोकसाहित्य
8— महासुवी लोकसाहित्य
9— मंडयाली लोकसाहित्य
10– कुल्लुई लोकसाहित्य
11– पंगवाली लोकसाहित्य
12– सिरमौरी लोकसाहित्य आदि, आदि।

उपरोक्त लोकसाहित्य रूपों में केवल भाषिक अन्तर ही नहीं है बल्कि इनका गहन अध्ययन स्थानीय लोकमानसिकता के विविध स्तरों को भी उद्घारित करता है। अतः इनके पृथक-पृथक अध्ययन की अपेक्षायें भी बढ़नी हैं।

■ **लोक साहित्य: शब्द, अर्थ, परिभाषा एवं क्षेत्रविस्तार :—**

लोकसाहित्य शब्द की निष्पत्ति 'लोक' तथा 'साहित्य' दो शब्दों से हुई है। लोक शब्द अंग्रेजी के *Folk* शब्द का पर्याय है। अतः लोक–साहित्य, ***Folk Literatyx*** का अनुवाद है। इसका शाब्दिक अर्थ है-लोक का साहित्य। इसका व्युत्पति लभ्य अर्थ अपढ़ लोगों का साहित्य है जिसमें लोक मानस की प्रधानता रहती है। इसके लिए ग्रामसाहित्य, जनसाहित्य, जनपदीय साहित्य आदि शब्दो का प्रयोग भी हुआ है। 'लोक साहित्य' शब्द भी अर्थ गंभीरता को विवेचित करते हुए इसी शब्द के ग्रहण पर बल दिया गया है।[1]

पाश्चात्य मतानुसार 'फोक लिट्रेचर' असंस्कृत जातियों का साहित्य है। कुछेक इसे मौखिक अभि व्यक्ति कहते हैं जो परम्परा में प्रवाहित कथा, कहानी, रिवाज, विश्वासों आदि में समाहित रहती है। इसकी रचना ज्ञात एवं अज्ञात व्यक्तियों द्वारा परम्पारित रूप से होती रहती है।

भारतीय कोशकारों के अनुसार यह लोक रचित रचना है जिसमें चैतन्यहीन लोकचित्त, स्वाभाविक, मौखिक युगयुगीन लोकवाणी साधना समाहित रहती है। लोकसाहित्य मर्मज्ञ इसे परम्परागत मौखिक क्रम से उप्लब्ध आदिमानस के अवशेष युक्त भाषा गत अभिव्यक्ति, लोकश्रुति पर आधारित, सामुहिक सम्पत्ति मानते हैं।[2] कुछेक इसे अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और अहंकार शून्य परम्परा के प्रवाह में जीवित लोगों का साहित्य, जनता के सुख दुःख की अनुभूति, भावमयी

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : भाग 16.
2. लोक साहित्य की भूमिका — डा० कृष्ण देव उपाध्याय।

लोक रंजनात्मक साहित्य लोकमानसी दर्पण, लोक चेतना का वाहक आदि की संज्ञा दी है।[1]

निष्कर्षत:

लोकसाहित्य परंपरा प्रवाहित तथा स्वरूप में मौलिक होने के कारण सदैव परिवर्तनशील रहता है। इसके विषयान्तर भेद सर्वत्र मिलते हैं। इसका निश्चित लिपिवद्ध अथवा लिखित रूप उपलब्ध नहीं होता। फलत: परम्परा में पड़ा बनता–बिगड़ता रहता है। यह साहित्य व्यक्ति रचना होने पर भी लोक रचित बन जाता है अत: ऐसी रचना जिसके रचयिता अज्ञात हों, जो परम्परा में पीढ़ी पर पीढ़ी रूपान्तर भेदों से प्रवाहित रहे और जिसे समूचा लोक अपनी सम्पत्ति माने लोक साहित्य कहा जा सकता है।[2]

क्षेत्र विस्तार : —

लोक साहित्य, लोक संस्कृति का एक अंग है। यह सर्व साधारण जनता 'लोक' के गीतों, गाथाओं, कथाओं, लोकोक्तियों–मुहावरों कहावतों, लोकानुरंजन-नाट्य एवं स्वांग आदि का एक गुलदस्ता है जिसके रंग, रस, रूप के अनुसार भिन्न–भिन्न स्वाद, प्रभाव, मादकता तथा रसात्मकता है। यह लोक-हृदय का स्वच्छन्द उदगार है जिसमें लोक जीवन प्रतिबिम्बित होता हैं, लोकमानस बहुबिधा मुखरित होता है, जिसे स्त्री, पुरुष, बालक सभी सम्मलित रूप में व्यक्त करते हैं। परम्परा बाहक को दृष्टी से विद्वान इसके तीन भाग, (1) स्त्रियों का साहित्य (2) पुरुषों का साहित्य तथा (3) बालकों का साहित्य भी मानते हैं।

---

1. ब्रज का लोक साहित्य — डा. सत्येन्द्र
(i) कुल्लुई लोक साहित्य — डा. पी. सी. कश्यप
(ii) किन्नर लोक साहित्य — डा. बंशी राम शर्मा
(iii) मैथिली लोकगीतों का अध्ययन — डा. तेज नारायण लाल
2. कांगड़ा के लोक गीत साहित्यिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन — डा० गौतम व्यथित।

विषय के आधार पर इसके वर्ग यूं निर्धारित किए हैं—लोकगीत, लोक गाथायें, लोक कथायें, लोकसुभाषित तथा लोकनाट्य ।

■ भारतीय लोकसाहित्यः सर्वेक्षण, अध्ययन समारम्भ :—

भारतीय लोक साहित्य के सर्वेक्षण एवं अध्ययन का कार्य दो वर्गों द्वारा आरम्भ किया गया — (1) अंग्रेज प्रशासक वर्ग द्वारा तथा (2) ईसाईत के प्रचार को द्वारा 1 ई० सन् 1784 में 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' की स्थापना हुई । इसके द्वारा एक पत्रिका भी प्रकाशित होती रही जिसमें भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व के अध्ययन की दिशा में स्तुत्य कार्य हुए ।

भारतीय लोकसाहित्य के संकलन, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य कर्नल टॉड द्वारा आरम्भ किया गया । एनहस एंड ऐंटिक्वीटीज अरब राजस्थान, लोक वार्ता अनुसधान क्षेत्र में मील पत्थर है । तदनन्तर ऐवर, सर रिचर्ड टैंपुल, सर ग्रियर्सन, विलियम क्रुक, आदि अंग्रेज विद्वानों प्रशासकों ने दक्षिण भारत, राजस्थान, पंजाव, बंगाल तथा उत्तरभारत के विभिन्न जनपदों की लोक संस्कृति के संग्रह, सम्पादन प्रकाशन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जो भारतीयों के लिए प्रेरक एवं मार्गदर्शक सिद्ध हुई ।

भारतीयों में इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में 'तारुदत' अग्रणी है । तत्पश्चात लाल बिहारी लाल डे, नरेश शास्त्री, दिनेश चन्द्र सेन, शरद चन्द्र राय, सूर्यकरण पारीक, झवेर मेघाणी, राय नरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, बनारसी दास चतुर्वेदी, डा० सत्येंन्द्र, डा० श्याम परमार आदि विद्वानों ने विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक कार्य किए । कालान्तर हिन्दी की बोलियों-अवधी, ब्रज, राजस्थानी. भोजपुरी, बघेली, छत्तीस गढ़ी. हरियाणवी आदि में भी

1— हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास भाग 16
द्र० डा० कृष्णदेव उपाध्याय=लोक साहित्य की भूमिका ।

2— द्र० डा० सत्येन्द्र=ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन ।
डा० तेज नारायण लाल= मैथिली लोकगीतों का अध्ययन ।

ऐसे संकलन. संपादन, प्रकाशन एवं अध्ययन के कार्य दृष्टिगोचर होते हैं[1]इसी परम्परा में पहाड़ी साम्प्रदायिक बोलियों के लोकसाहित्य में भी संकलन संपादन तथा अध्ययन–कार्य आरम्भ हुआ ।

■ विवेच्य विषयः सर्वेक्षण, सम्पादन, अध्ययन सामारंभ एवं उपलब्धियां

हिमाचल प्रदेश में विवेच्य विषय के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वेक्षण, संकलन एवं अध्ययन का समारंभ इसी सदी के छठे दशक से माना जा सकता है। इससे पूर्व किसी लोकगीत को लेकर उसका परिचयात्मक उल्लेख यदा-कदा किसी पत्र पत्रिका में आता रहा। परन्तु क्रमिक एवं व्यवस्थित कार्य करने । होने के संकेत इससे पूर्व नहीं दिखे । इसके जनपदीय लोक साहित्य का प्रकाशित रूप सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग–16 में देखने को मिला। अतः इस ग्रंथ में जिन विद्वानों ने परिश्रम साध्य कार्य किया, अपनी धरोहर को संग्रहीत, सुरक्षित करने की दिशा में प्रयास आरंम्भ किया। इस दिशा में बास्तव में बधाई एव प्रशंसा के पात्र हैं । इसमें हरिप्रसाद सुमन, शम्मी शर्मा आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

हिमाचली लोक साहित्य के संग्रह, सम्पादन प्रकाशन की दिशा में डा० एम. एस रंधावा का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने ही अपने प्रभाव से कांगड़ा तथा कुल्लु के लोकगीतों का संग्रह संपादन करवाकर प्रकाशन करवाया। तत्पश्चात इस दिशा में सतत् प्रयास बढ़ता गया। मेरे अनुभव में जितना कुछ आ सका है अथवा इस क्षेत्र का एक अनुसंधित्सु होने के नाते जितनी जानकारी हासिल है, गर्व से कह सकता हूँ कि इतने थोड़े से समय में भी काफी कार्य हुआ है ।

■ उपलब्धियांः सर्वेक्षण, सम्पादन, अध्ययन एवं शोध

विवेच्य विषय में हुई उपलब्धियां बहुमुखी हैं, असीमित भी काल, स्थान एव व्यक्ति भेद के कारण। परन्तु जहां तक मेरा प्रयास है इस

1— द्र० वही०

दिशा में पूरी कोशिश की है कि लोक साहित्य के क्षेत्र में हुई अब तक की उपलब्धियों को सही–सही आंका जाए, उनका ठीक–ठीक विवरण दिया जाए। फिर भी जैसा कि मैंने निवेदन किया है, हर क्षेत्र में किया गया अथवा किया जा रहा सर्वेक्षण या अध्ययन स्वयं में पूर्ण न होकर पुन: अध्ययन की व्यापक अपेक्षायें रखता है समग्रतः हिमाचल के लोक-साहित्य संबंधी उपलब्धियों को यूं दिखाया जा सकता है, इसे में रही न्यूनताओं की पूर्णता की आपसे पूरी अपेक्षायें लेते हुए :—

क. लोकगीतों के क्षेत्र में हुए कार्य :—

१ कांगड़ा के लोक गीत :— डॉ० एम. एस रंधावा, वर्ष 1956,

इसमें कुल 2 5 गीत संकलित हैं जिनका विषय ऋतु, प्रेम, संस्कार, समाज, त्यौहार, ढ़ोलरु, वारें गदि्दयों के गीत है। यह संकलन एवं प्रकाशन कांगड़ा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि हिमाचल के लोकगीतों के क्षेत्र में प्रथम प्रकाशित लोकगीत संग्रह है। इसमें लोकगीतों के मूल रुप उपलब्ध होते हैं, जो विभिन्न माध्यमों से एकत्रित करवाए गए थे, यही कारण है कि इसमें भाषा का स्वरुप स्पष्ट नहीं होता।

२. कांगड़ा : देश, कला और गीत :— डॉ० एम एस रंधावा.

यह संग्रह उपरोक्त का परिवद्धित संस्करण कहा जा सकता है। इसमें 420 पृष्ठ हैं। यह 1970 में प्रकाशित हुआ। लोकगीतों का वर्गीकरण उपरोक्त के समान ही है। आरम्भ में कांगड़ा क्षेत्र की पृष्ठ भूमि दी गई है।

३. पहाड़ी लोक गीत :— दुनी चन्द शर्मा, वर्ष 1960.

इसमें 117 पृष्ठ हैं। इसका प्रथम रुप उर्दू में सन् 1958 में प्रकाशित हुआ था इसमें लोकगीतों को उनकी भाव भूमि के आधार पर बिभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्याख्यायित किया गया।

४. कुल्लू के लोकगीत :— डा० एम. एस. रंधावा.

५. कांगड़ा लोकगीत :— गौत्तम व्यथित' वर्ष 1973.

इसमें कुल पृष्ठ संख्या 151 है जिसमें 120 संस्कार गीत हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादित हैं । हिमाचल के लोकगीतों के क्षेत्र में यह एक वैज्ञानिक संपादन कहा जा सकता है ।

६. **हिमाचली लोकगाथाय** :— सम्पादक, अनुवादक: श्री रामदयाल नीरज, वर्ष 1973.

इसमें हिमाचल की 21 लोकप्रिय लोकगाथाओं को अनुवाद सहित प्रकाशित किया गया है हिमाचली लोकगाथाओं के संकलन एवं सम्पादन में यह एक स्वस्थ तथा वैज्ञानिक कार्य ठहरता हैं । इसमें पृष्ठ संख्या 304 है ।

७. **हिमाचली लोक रामायण** :— सम्पादन-प्रकाशन: भाषा एवं संस्कृति अकादमी हिमाचल प्रदेश, वर्ष 1974, पृष्ठ 256.

इसमें प्रदेश के विभिन्न भागों में प्रचलित लोक रामायण रुपों को सानुवाद सम्पादित-प्रकाशित किया गया है। भाषा के तुलनात्मक रुप एवं लोक की भावात्मक-समानान्तरता का बढ़िया उदाहरण है ।

८. **भूमे धरती गाए लोक** :— डा० गौतम 'व्यथित', वर्ष 1977.

कुल पृष्ठ 150. इसमें 155 लोकगीत सम्पादित हैं जिन का वर्गीकरण-छिंजोटियां, रुहणिया (श्रमगीत), होल्यां, लूह्‌कड़ियां, बारह-माहियां-आदि रुपों में किया गया है ।

९. **लामण** :— खेमी राम तथा बालकृष्ण ठाकुर, वर्ष 1977, (ठण्डे पाणी रे डिभणू)

144 पृष्ठीय, इस पुस्तक में लामण के साहित्यिक पक्षों की विवेचना करते हुए इसके भाव पक्षों को भी बिवेचित किया गया है। लामणों का यह प्रथम अनुपम संग्रह ठहरता है ।

१०. **ढ़ोलरू** :— डा० गौतम व्यथित, वर्ष 1980.

इस पुस्तक में 104 पृष्ठ हैं जिनमें 19 ढ़ोलरु रुपों को उनके गायन-कथानुसार सम्पादित प्रकाशित किया है मूल के सामने हिन्दी

अनुवाद देने से इसका महत्व और भी बढ़ गया है । अन्त में इनका मूल्यांकन दिया गया है।

११. **संस्कार गीतः**— हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, वर्ष 1982, पृष्ठ संख्या 200 ।

इसमें 19 शीर्षकों के अन्तर्गत हिमाचल के विभिन्न जनपदों के संस्कार गीतों को सानुवाद प्रकाशित किया गया है। इस प्रकाशन से हिमाचल के समतली क्षेत्रों में परम्परित संस्कार गीतों की भावभूमि की समानान्तरता का बोध होता हैं। तुलनात्मक अध्ययन हेतु ऐसे संग्रह उपयोगी होंगे ।

१२. **अप्पू चले परदेश :**— स्वर्ण कान्ता प्रेम, वर्ष 1983,

इसमें 113 पृष्ठों के भीतर पंजल क्षेत्र (डाडासीवा) के संस्कार जातरा, तीज तिहार, मेला, गाथायें आदि लोकगीत रुप संकलित हैं। यह क्षेत्र संकलन–सर्वेक्षण की दृष्टि से अभी तक अछूता था जिसे स्वर्ण कान्ता प्रेम ने पूरा किया ।

१६. **वेदना के स्वर :**— हेमकान्त कात्यायन, वर्ष 1983.

इस पुस्तक के दो भाग हैं। प्रथम भाग में 19 लोकगीत संकलित हैं। दूसरे भाग में लोकगीतों की परिभाषा, रुप सौंदर्य, रसानुभूति, संगीत आदि की विवेचना की गई है।

१४. **हिमाचली लोकगीत :**— हि० प्र० भाषा एवं संस्कृति विभाग,

वर्ष 1983, 312 पृष्ठीय पुस्तक में 47 धार्मिक–अध्ययन लोकगीत 19 गाथा गीत, 50 संस्कार गीत, 40 श्रंगार गीत, 16 नृत्य त्यौहार गीत, 6 प्रदेश महिया कुल 311 गीत संकलित हैं। सानुवाद विभाग की योजनाओं के अन्तंगत हुआ यह कार्य स्तुत्य कहा जा सकता।

१५. **भर्तृहरि लोक गाथा :**— हि. प्र. भाषा एवं संस्कृति अकादमी,

वर्ष 1984, पृष्ठ संख्या 192. इसमें लोकसाहित्य में भर्तृहरि गाथा के निबन्ध के साथ जुब्बल, कोटखाई, राजगढ़–सिरमौर, कांगड़ा

क्षेत्रों में परम्परित भर्तृहरि गाथा रुपों को सम्पादित-प्रकाशित किया गया है। यह एक स्तुत्य प्रयास है।

१३. कांगड़ा के संस्कार गीत :— डा० रमेश शर्मा अरुण. (पुस्तक उपलब्ध नहीं हुई)

नोट :— हिमप्रस्थ, हिमभारती, सोमसी, वीर प्रताप, हिमधारा, जन साहित्य आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी लोक गीतों के रुप प्रकाशित एवं विवचित होते रहे हैं जिसने इस दिशा में कार्यरत व्यक्तियों को समय-समय पर प्रेरित किया।

शोधकार्य :—

(क) हिमाचल के लोकगीतों को लेकर पी. एच-डी. उपाधि हेतु स्वीकृत दो शोध प्रबन्ध उपलब्ध हैं :—

१. कांगड़ा के लोक गीत साहित्यिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन,

गुरुनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर. वर्ष जनवरी 1974. डा० गौतम शर्मा व्यथित।

यह शोध प्रबन्ध वर्ष 1984, में जय श्री प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसमें लोकगीतों के सैधान्तिक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए इनके साहित्यिक-तत्वों पर विवेचना की गई है। भारतीय लोक साहित्य क्षेत्र में हुए ऐसे कार्यो में यह एक उद्धरणीय ग्रंथ हैं।

२. मण्डयाली लोकगीत :— ड० कांशी राम आत्रेय,

यह शोध प्रबन्ध अप्रकाशित है। पंजाब विश्व बिद्यालय से वर्ष 1978 में स्वीकृत हुआ। यह कार्य भी डा० आत्रेय जी के अथक परिश्रम का सूचक है।

(ख)— ● हिमाचल के लोकगीतों पर एम. फिल. हेतु स्वीकृत लघु शोध प्रबन्धों का विवरण इस प्रकार मिला है :—

१. कागड़ा के संस्कारगीत :— रमेश शर्मा, हि. प्र. वि. वि.

२. **चम्बा के लोक गीत** :— आशापुरी — ॥ —

६. **कांगड़ा की लोकगाथायें** :— चन्द्र रश्मा — ॥ —

४. **किन्नरलोक गीतों में समाज चित्रण** : – सुन्दर देवी नेगी —॥—

इसके अतिरिक्त भाषा-संस्कृति विभाग तथा अकादमी की पत्रिकाओं—हिमभारती तथा सोमसी में लोकगीतों के विविध पक्षों पर शोध पूरक एवं परिचयात्मक लेख, प्रपत्र छपते रहे हैं जो इस विषय में विशद् जानकारी देते हैं।

● **लोक कथायें** :—

हिमाचल की लोककथाओं के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रकाशित संकलन मिले हैं :—

१. **हिमाचल की लोककथायें** :— सन्त राम वत्स्य (हिन्दी में)

२. **पहाड़ां दे अत्थरू** : — (लोककथायें) गौतम व्यथित (पहाड़ी में) वर्ष

३. **कागज का हंस** :— गौतम व्यथित (हिन्दी में)

४. **राज कुमारी और तोता** :— गौतम व्यथित (हिन्दी में)

५. **नौलखिया हार** :— गौतम व्यथित (हिन्दी में)

६. **हिमाचल की लोककथायें** :— सन्तोष शैलजा (हिन्दी में)

७. **फोक टेल्ज ऑफ हिमाचल** : - सीता लक्ष्मी (अंग्रेजी में)

८. **स्हेड़ेयो फुल्ल** :— शेष अवस्थी (पहाड़ी में)

९. **मीठी यादें** : – हरि कृष्ण मुरारी (पहाड़ी में)

१०. **पलौ खट्टे मिट्ठे** :— **नवीन** हलदूनवी (पहाड़ी में)

११. **कथा सरवरी भाग-१** } हि. प्र. भाषा एवं संस्कृति अकादमी
१२. **कथा सरवरी भाग-२** } शिमला, वर्ष क्रमशः 1977.

इन संग्रहों में अनुमानतः साढ़े तीन सौ लोककथायें संपादित हैं। इसके अतिरिक्त हि. प्र. भाषा विभाग की सर्वेक्षण योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों से आई हजारों लोककथायें भाषा विभाग हि. प्र. तथा अकादमी के कार्यालय में सुरक्षित पड़ी होने की पूरी संभावनायें हैं। भाषा-विभाग तथा भाषा-अकादमी की पत्रिकाओं-हिमभारती तथा सोमसी में प्रकाशित अनेक जनपदीय बोलियों की लोक कथायें पढ़ने को मिली हैं। इन सभी का सर्वेक्षण सम्पादन होने पर पुस्तकाकार में उपयोगी संग्रहों की संभावना निश्चित है।

● **शोध-समीक्षा :—**

हिमाचल की लोककथाओं को लेकर शोध समीक्षा का क्षेत्र अनछुआ ही पड़ा है। मेरी दृष्टि में अभी तक एक ही शोध प्रबन्ध पर पी. एच. डी. की उपाधी दी गई है। जो डा० सत्य ठाकुर ने "हिमाचल की लोककथाओं में पारिवारिक जीवन" विषय पर प्राप्त की है। दूसरा स्वस्थ कार्य "कांगड़ा की लोककथाओं" को लेकर प्रेम भारद्वाज ने एम०फिल० के लिए लघु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया था।

■ **कहावतें, मुहावरे**

कहावतें, मुहावरे, लोकोक्तियां, पखंण, बुझारतें या फोह्लणियां आदि लोकभाषा के अनायासिक अलंकरण है जिन्हें पहाड़ी भाषा (हिमाचली) खूब सजा बनाकर पहने है। इसका अभिव्यक्ति पक्ष इनसे इतना अलंकृत है कि श्रोता सुनते ही मोहित हो जाता है। प्रतीकात्मकता पहाड़ी भाषा की खूबी है। हिमाचल की इस सम्पदा का हस्तान्तरण लोक मंच के माध्यम से अधिक होता है। परन्तु आज के वैज्ञानिक युग ने अलाव के आसपास बैठने, बनितानें, मार्ग में पैदल चलते गप-शप लड़ाने, चौपाल में गप्पे हांकने के अवसर ही छीन लिए हैं। अब तो सुख सान्त लेने देने की फुर्सत ही नहीं। अतः इस धरोहर के लुप्त होने, विस्मृत होने के खतरे बढ़ रहे हैं। इस दिशा में प्रकाशित निम्नलिखित संग्रह प्राप्त हुए हैं।

1. **स्वाद बखरे-बखरे :**—ओम प्रकाश प्रेमी, 1970

जहां तक मेरी जानकारी सही है, यह संकलन हिमाचली कहावतों,

बुझारतों आदि के क्षेत्र में प्रथम संग्रह है। इसके बहतर पृष्ठ हैं, जिस में 203 कहावतें (भाव–व्याख्या सहित), 152 फोह्लणियां, 40 लोक वार्ता प्रश्न, संदर्भ सहित संकलित हैं। कुल मिलाकर यह कार्य उद्धरणीय कहा जा सकता है।

2. **हिमाचली मंजूषा :–**डा० काशी राम आत्रेय,

3. **हिमाचली पहेलियां :–** डा० कांशी राम आत्रेय, वर्ष – , इसमें साढ़े सात सौ पहेलियां, अर्थ सहित संकलित हैं।

4. **हिमाचली मुहावरे :–** भाषा संस्कृति विभाग 1983

5. **हिमाचली लोकोक्ति संग्रह :–** (प्रथम भाग), भाषा एवं संस्कृति अकादमी हि०प्र० द्वारा सम्पादित प्रकाशित। इसमें 696 लोकोक्तियां हिन्दी रूप तथा व्याख्या सहित दी गई हैं। संग्रह की दिशा में एक स्वस्थ एवं वैज्ञानिक सम्पादन है।

■ **शोध–समीक्षा :**

इस दिशा में केवल एक ही शोध प्रबंध हिमाचल वि० विद्यालय से स्वीकृत हुआ है जो इस प्रकार हैं :—

1. **कांगड़ी कहावतों का सामाजिक अध्ययन :–** डा० रमेश शर्मा अरुण

■ **लोक संगीत :–**

हिमाचल का लोकसंगीत अपनी निजी विशेषतायें रखता है। यहां की भौगोलिकता तथा प्राकृतिक सुषमा, पर्वतों की ऊंचाईयां, वर्फ की गंभीरता, वायु–तंरगों की चंचलता, नदी–नालों में प्रवाहित जल–लहरियों की गतिशीलता में उभरता नाद, यहां के सुर, ताल वाद्य जिस संगीत माधुरी का विस्फोट करते हैं, उसकी मुग्धा किसे नहीं मोहती। लोकसंगीत के क्षेत्र में भी कुछ कार्य हुए हैं जो हमारी उपलब्धियां हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :—

1. **शैडो ऐण्ड सन् लाईट :–** डा० कर्ण सिंह बर्ष 1962, इसमें 64 डोगरी पहाड़ी लोकगीतों के रुप तथा उनकी स्वरलिपियां दी हैं। यह कार्य इस दिशा में प्रथम होने पर भी पूर्णतया वैज्ञानिक हैं।

2. **हिमाचलीय लोकलहरी :–** एस० एस० एस० ठाकुर, बर्ष 1971 186 पृष्ठों की इस रचना में चम्बा-पांगी, किन्नरी, मंडी- महासू, कांगड़ा, सिरमौर, कुल्लू, बिलासपुर, लाहुल-स्पोति के लोकगीतों के रूप तथा उनका समय स्वरांकन बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से दिया गया है। वास्तब में श्री ठाकुर जी का यह कार्य उनकी हिमाचली लोकसंगीत माधुरी में असीमित रुचि का दर्पण है।

3. **हिमाचल का लोक संगीत :–** केशव आनन्द, वर्ष 1982 पृ० 208 केशव आनन्द के इस कार्य का आरंभिक रुप हिमप्रस्प पत्रिका से आरंभ हुआ है। यह एक विस्तृत अध्ययन है। इसमें सैद्धान्तिक विवेचन के साथ प्रदेश के क्षेत्रीय लोकगीतों की सुरमाधुरी-स्वरलिपियां दी हैं, नृत्य ताल, वाद्य के परिचय के साथ।

■ शोध :–

हिमाचली लोक संगीत के क्षेत्र में अभी तक शोध प्रबंध प्रस्तुति का संकेत नहीं मिला है। एम० फिल के लिए जो लधु शोध प्रबंध स्वीकृत हुए हैं वे इस प्रकार हैं :—

1. **निर्मण्ड क्षेत्र का लोकसंगीत और उसकी परम्परा :–**सुरजीत सिंह पटियाल, हिमाचल प्रदेश विश्व विद्यालय।

2. **कांगड़ा के संस्कार गीतों का लोकसंगीत' :–**भोलू गुरुनानक देव वि० वि० अमृतसर वर्ष 1984।

3. **कांगड़ी लोक गीतों का लोकसंगीत :–**इन्दु वाला, कुरुक्षेत्र वि० विद्यालय, कुरुक्षेत्र वर्ष 1986

नोट : डा० वी. डी. काले ने भी इस क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है, परन्तु उसका विवरण उपलब्ध न होने के कारण प्रामाणिक रूप से कुछ कहना बन नहीं सका।

■ **लोक नाट्य :**

हिमाचली लोकसाहित्य में लोकनाट्य भी एक विशेष रोचक विधा है। सिरमौर का करियाला, मण्डी का बांठड़ा, कांगड़ा का भगत कुल्लू तथा चम्बा का हरणातर, किन्नौर का होरिङ्ग फो, महासु का ठोड़ा तथा अनेक प्रकार के देऊ खेल, लोकनाट्यों के रसीलें, चुटीले, मनोहर रुप हैं। इनमें भाषा शिल्प, अभिव्यक्ति कुशलता, कथा घढ़ने की चतुरता, संवाद-मनोहरता, प्रस्तुति स्वाभाविकता देखते ही बनती है। परन्तु इस परम्परा को भी आज की स्थितियों का 'घुन' भीतर ही भीतर पोरने लगा है। लोकनाट्य परम्परायें अपनी स्वाभाविक उन्मुक्तता से दूरतर होती अनुष्ठानिक बनती जा रही हैं। इस दिशा में युद्धस्तर पर कार्य करने की आवश्यकता सभी को महसूस होती है, ज्ञात है। इसदिशा में निम्नलिखित पुस्तकें छपी हैं, जो मुझे ज्ञात है :-

1. **करियाला :-** एस० एस० एस० ठाकुर, यह 30 पृष्ठय पुस्तक करियाला की परम्परा एवं स्वारु पर प्रकाश डालती है, परिचयात्मक है।
2. **हिमाचली नाट्य :-** डा० हरि राम जस्टा (विवरणात्मकरतन विवेचनात्मक अध्ययन)
3. **हिमाचल प्रदेश के लोकनाट्य और लोकानुरंजन :-**मौलूराम ठाकुर पृष्ठ 168

उपरोक्त 2,3 प्रकाशन लोकनाट्य के विविध पक्षों पर विवेचनात्मक बोध देते हैं, सराहनी कार्य है।

शोध :

इस क्षेत्र में **Ph-D** के लिए अभी कोई शोधप्रबंध स्वीकृत नहीं हुआ न ही लिखा गया है, ऐसा महसूस होता है। एम० फिल० के लिए लघु प्रबंध अवश्य प्रस्तुति पा सका हैं :—

1. **हिमाचल प्रदेश की लोक नाट्य परम्परायें :-** दयासागर हि०प्र० बिश्वविद्यालय शिमला

■ **हिमाचली लोकसाहित्य संबन्धी प्रकाशित पुस्तकें :**

हिमाचल के जनपदीय साहित्य को लेकर तथा समग्र रूप में अनेक

पुस्तकें प्रकाशित हुई है, व्यापकता से कार्य कहोने के संकेत मिलते हैं। जो पुस्तकें मेरे देखने में आई उनका विवरण यूं है :—

1. **सांकेतिक रूप में लोक साहित्य चर्चा ;**– हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, भाग–16 में चम्बा, कांगड़ा, मण्डी आदि क्षेत्रों के लोकसाहित्य रूपों की प्रासंगिक चर्चा भारतीय लोकसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में हुई, यह गौरव की बात है।

2. **हिमानी लोकसाहित्य :**–नरेन्द्रधीर वर्ष 1961, 308 पृष्ठीय

इस पुस्तक में कश्मीरी लोकसाहित्य के साथ चम्बयालो, कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी, कण्डयाली, किन्नौरी आदि लोकसाहित्य रूपों की सांकेतिक चर्चा की है। इस दिशा में यह प्रथम प्रयास कहा जा सकता है जो अन्य पहाड़ी लोकसाहित्य रूपों के समुख हिमाचली लोकसाहित्य को उकेरने उसका महत्व समझाने की कोशिश करता है।

3. **पहाड़ी भाषा और लोक साहित्य :**– हि० प्र० भाषा–संस्कृति अकादमी द्वारा सम्पादित–प्रकाशित

इसके दूसरे भाग में कहलूरी, कांगड़ी, सिरमौरी, मण्डियाली, चम्बयाली. महासुई लोकसाहित्य की सांगोपांग विवेचना की गई है।

4. **पर्वती :**– डा० शम्मी शर्मा वर्ष 1970

इसके 130 पृष्ठों में बीस शीर्षकों के अन्तर्गत कांगड़ा तथा कुल्लु के जनपदीय लोकसाहित्य के कुछेक पक्षों के विषय में निबंध संकलित है।

5. **हिमजा :**– डा० शम्मी शर्मा वर्ष 1979, इसमें कुल 110 पृष्ठ हैं। जिन में 17 ललित निबन्ध संकलित हैं।

6. **हिमाचल प्रदेश लोक संस्कृति और साहित्य :**–डा० गौतम व्यथित, वर्ष 1980

7. **हिमाचल लोक साहित्य मंजूषा :**– डा० कांशी राय आत्रेय, पृष्ठ 140

8. **कुल्लू प्रदेश की कहानी** :– लाल चन्द प्रार्थी, इसमें अनेक लोक–साहित्य संदर्भ उपलब्ध है।

■ **पत्रिकायें** :

हिमप्रस्थ, सोमसी, हिमधारा, सप्तसिन्धु, संस्कृति, आजकल, पंजाब सौरभ, जागृति, डोगरो–हिन्दी, शिराजा, हमारा साहित्य, स्हाढ़ा साहित्य, नमी चेतना आदि पत्रिकाओं के अंक, विशेषांक भी उद्‌रणीय है।

■ **शोध ग्रंथ** :

हिमाचल के लोकसाहित्य संबंधी स्वतंत्र रूप में लिखे शोध प्रबंध, जिन पर पी. एच. डी. की उपाधियाँ स्वीकृत एवं प्रदत हुई है। इस प्रकार परिचय में आए हैं :—

1. **कुल्लुई लोकसाहित्य** :– डा० पद्‌म चन्द्र कश्यप, प्रकाशन वर्ष 1972

इस शोध प्रबंध में 233 पृ० हैं जिन में सात शीर्षकों—उपशीर्षकों के अन्तर्गत कुल्लुई लोकसाहित्य को विवेचित करने का सद्‌प्रयास किया गया है। हिमाचल के लोकसाहित्य के क्षेत्र में यह प्रथम शोध प्रबंध हैं जो पंजाब विश्वविद्यालय में स्वीकृत हुआ। इसमें डा० कश्यप जी के सत्त अध्ययन, अनुभव तथा लोकसाहित्य के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का बोध होता हैं।

2. **किन्नर लोकसाहित्य** :– डा० बंशी राम शर्मा प्रकाशन वर्ष 1976

प्रस्तुत पुस्तक में 414 पृ० हैं। किन्नर के लोक जीवन को लोक साहित्य के आलोक में एक गवेषणात्मक दृष्टि से देखने, मुल्यांकित करने की दिशा में यह एक उद्‌रणीय कार्य है। सारो सामग्री ग्यारह अध्यायों में वर्गीकृत है जो पूर्णतया वैज्ञानिक, अध्ययन एवं स्वानुभूति से पूर्ण है। यह मात्र स्थानीय लोकसाहित्यिक सामग्री का सम्पादन न होकर अनुसंधान कर्ता के व्यक्तित्व की स्थापना करता हैं। शोध विषय सबंधी उनके स्वतंत्र चिन्तन का परिचायक भी है। पुस्तक में चित्रावली देकर कथन को समर्थन मिला है। अन्य क्षेत्रों में भी इसी

अध्ययन के अनुरूप कार्य करने की विशद प्रेरणायें मिलनी स्वाभाविक हैं। यह शोध प्रबंध भी पंजाब वि० विध्यालय में स्वीकृत हुआ है।

3. **कांगड़ा का लोकसाहित्य** :– डा० सत्या गुप्ता

इस शोध प्रबंध में कांगड़ा जनपदीय लोकसाहित्य को विवेचित किया गया है। इसका प्रकाशित रूप अभी उपलब्ध नहीं हो सका है।

4. **सिरमौरी लोकसाहित्य** :- डा० खुशी राम गौतम

इसमें सिरमौर के लोकसाहित्य का अध्ययन किया है। यह शोध प्रबंध भी पंजाब विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ है। अभी तक अप्रकाशित हैं।

5. **बिलासपुरी जनपद के साहित्य का अध्ययन** :– डा० श्री राम वर्ष 1979, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला से स्वीकृत।

अभी तक अप्रकाशित है। इसमें बिषयानुरूप अध्ययन संभावनाओं पर व्यापकता से कार्य किया गया है।

उपरोक्त शोधकार्यो के अतिरिक्त मेरी जानकारी में कोई ग्रंथ नहीं है। यदि श्रोता/पाठक वर्ग इस से विक्ष हो तो कृपया मेरे सर्वेक्षण ज्ञान में वृद्धि करें, प्रस्तुत अध्ययन को पूर्ण करने में सहयोग दें।

(ख) ■ **लोकसाहित्य के जिन विषयों पर शोध कार्य हो रहा है**, उस की जो सूचना मुझे प्राप्त हो सकी है, इस प्रकार है :—

1. **हिमाचल की लोक कथाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन** :–प्रेम भारद्वाज, द्वारा पी-एच-डी उपाधि पाने हेतु हि०प्र० वि० विद्यालय में पंजीकृत करवाया विषय।

2. **कांगड़ा की लोककथायें** :– देसराज द्वारा एम–फिल हेतु लिया विषय (हि०प्र० विश्वविद्यालय से)

3. **कांगड़ा के लोक साहित्य का सांस्कृतिक अनुशीलन** :– स्वर्णकान्ता 'प्रेम' द्वारा पी-एच–डी की उपाधि पाने हेतु हि०प्र० विश्व–विद्यालय में पंजीकृत करवाया विषय।

4. **कांगड़ा क्षेत्र के लोकसंगीत का स्वरांकन एवं सैद्धान्तित विवेचन :** देवराज शर्मा द्वारा पी-एच-डी की उपाधि पाने हेतु इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (म०प्र०) में पंजीकृत करवाया विषय।

5. **कांगड़ा के लोककाव्य में राम का स्वरूप :-** कुमारी मीनाक्षी शर्मा द्वारा हि०प्र० विश्वविद्यालय की एम-फिल परीक्षा में प्रस्तुत करने हेतु लिया विषय।

■ **लोकभाषा :**

लोकसाहित्य अपनी बोली, उपभाषा या भाषा रूप में परम्परित होता है, मौखिक प्रवाह में, अनायासिक रूप से फलतः इसके शब्द विन्यास, वाक्यविन्यास, संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि रूपों में स्थानीयता के कारण अन्तर आते जाते हैं। यही इसकी विविधता का सौंदर्य है। प्रस्तुत शोध पत्र के प्रारंभ में हम विषय की पृष्ठभूमि में यहाँ की भौगोलिकता का संकेत दे आए हैं। परिणामतः यहां अनेक बोली, उपभाषा रूप प्रयोग-परम्परा में हैं। इनके अध्ययन की दिशा में जो कार्य मेरी जानकारी में आए हैं इस प्रकार हैं :—

1. **कांगड़ी भाषा का अध्ययन :-** डा० श्याम लाल डोगरा, पी-एच-डी हेतु स्वीकृत शोध प्रबंध।

2. **कुल्लुई भाषा के संस्कृत मूलक शब्द :-** भाषा वैज्ञानिक अध्ययन विद्या चन्द ठाकुर वर्ष 1981

3. **पहाड़ी भाषा :-** एम० आर० ठाकुर वर्ष 1975

327 पृष्ठीय इस पुस्तक में पहाड़ी भाषा के उद्भव की चर्चा करते हुए कुल्लुई भाषा रूपों का व्याकरणिक अध्ययन प्रस्तुत किया है जो ठाकुर जी के गहन अध्ययन एवं रुचि का सूचक है।

4. **पहाड़ी भाषा और लोकसाहित्य :-** भाषा एवं संस्कृति विभाग हि०प्र०

इस पुस्तक के प्रथम भाग में पहाड़ी भाषा और उसकी उपभाषाएं शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों द्वारा बघाटी, कहलूरी, कुल्लुई

चम्बयाली, कांगड़ी, मन्डयाली उपभाषा–बोली रूपों का अध्ययन संकलित है ।

उपरोक्त के अतिरिक्त हिमभारती, जनसाहित्य, हिमप्रस्थ, सप्र–सिन्धु तथा सोमसी पत्रिकाओं में भी हिमाचली उपभाषा–बोली रूपों के बिषय में प्रकाशित सामग्री उपलब्ध है। भाषा संस्कृति विभाग की सर्वेक्षण योजना के माध्यम से भी स्थानीय भाषा रूपों के सबंध में पप्ति सामग्री एकत्रित होने की संभावना बनना सहज है। शिक्षा विभाग, राज्यभाषा संस्थान (वर्तमान हि०प्र० भाषा एवं संस्कृति विभाग) द्वारा प्रकाशित शोध पत्रावली (भाग–2) में भी उपभाषा रूपों का व्याकरणिक अध्ययन किया गया है ।

लोककथाओं का नाट्यकरण .

लोककथाओं के नाट्यकरण की व्यापक सभावनायें हैं। यहां अनेक ऐसी लोकगाथाऐं, गीतियां, लोककथायें परम्परित हैं जिनमें नाटकीय विशेषतायें हैं। ऐसे प्रयोग से इनके संप्रेषण,संरक्षण एवं अध्ययन की सुविधायें भी बढ़ेगी। इस दिशा में प्रकाशित पुस्तके कम उपलब्ध हैं। एक प्रकाशन यूं मिला है —

1. **तीन लोक नाटिकाएं :–** हिमाचल कला–संस्कृति भाषा अकादमी. शिमला, वर्ष 1977
   इसमें केवल 48 पृ० हैं जिन में तीन लोक नाटिकाएं,

1. **लाटी शरजंग :–** हिना उण्डुव,

2. **पवाड़ा झांखों अजबा,**

3. **सुन्नी भूंखूं.**

आकर्षक पद्यवद्धा तथा दृष्य विधान के साथ सम्पादित हैं। हिमाचल की परम्परित लोकनाट्य परम्परा के निर्वाह में ये प्रयोग लोकमानस को रोचक एवं मनोहारी लगेंगे. इसमें दो राय नहीं।

(ii) हिमाचल के आकाशवाणी केन्द्र शिमला से शिखरों के आर–पार स्तर में यहां की रोचक लोककथाओं के रेडियो रूपक प्रसारित हुए हैं, जिनके हस्तलेख वहां सुरक्षित होंगे।

मुझे कुछको सुनने का सुअवसर मिला है, वास्तव में ही ध्वनि प्रयोगों के माध्यम से मनोहारी लगे। ऐसे प्रयोग पुस्तकाकार में आ सके तो लोकनाट्य संरक्षण ये उपलब्धि होगी।

(iii) कांगड़ा के लोकप्रिय राजा संसार चन्द के जीवन के रोमांटिक पक्षों से जुड़ी कथा–कहानी पर आधारित पवनेन्द्र पवन ने 'त्रिवेणी' नाटक को रचा भी और कांगड़ा लोक-साहित्य परिषद के मंचो पर चार स्थानों पर मंचित भी किया। इसकी पाण्डुलिपि अभी अप्रकाशित है।

(iv) चम्बा नरेश राजा राजसिंह के नेरटी (कांगड़ा) में हुए बीरता पूर्ण त्याग एवं बलिदान की लोकमुखी बार्ता को 'समाधि' नाम सें नाट्यरूप दिया है डा० गौतम व्यथित ने। इस प्रयोग को भी चार मंचों पर प्रदर्शित किया गया है। यह रचना भी अप्रकाशित है।

(v) हिमाचल के कई भागों में परम्परित एवं लोकप्रिय ढोलरु रुल्हा दी कुल्ह के आधार पर कमल हमीरपुरी ने क्षमादमन नाटक की रचना की है। यह प्रयोग भी एक उद्रणीय है।

नोट — (उपरोक्त 3–5 प्रयोग कांगड़ा लोकसाहित्य परिषद के लोक-कथाओं के नाट्यकरण योजना के अन्तर्गत परिषद निदेशक के निर्देशन में रचे एवं अभिनीत हुए)

निष्कर्ष :

हिमाचल के लोकसाहित्य के क्षेत्र में हुए उपरोक्त कार्य–विवरण से यह सहज अनुमाननीय है कि इस प्रदेश में थोड़े से समय के भीतर भी अनेक उपलब्धियां हुई हैं। प्रदेश में भाषा–विभाग एवं भाषा-संस्कृति अकादमी की स्थापना से इस दिशा में कार्यरत संस्थाओं तथा व्यक्तिगत प्रयासों को प्रेरणा, दिशा बोध, सहायतानुदान आदि मिलने की संभावनायें बढ़ी हैं। उपर्युक्त कार्यों की पूर्वपीठिका में अंग्रेज प्रशासकों दारा सम्पादित जिला गजटीयरों अथबा सैटलमैंट रिर्पोटस में यहां के लोकसाहित्य को सांकेतित रूप मे चर्चित किया गया है।

प्रदेश के भीतर हुए जनगणना कार्यो, विशेष स्थानों के सर्वेक्षणों आदि में भी स्थानीय लोकसाहित्य के रंग मिलते हैं। परन्तु ये सब प्रासंगिक प्रकरण कहे जा सकते हैं। कुल मिलाकर लोकसाहित्य के क्षेत्र में हुई उपलब्धियां प्रशसंनीय तथा प्रेरक हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में विचारने पर हमें हिमाचल के लोकसाहित्य के क्षेत्र में कार्य करने की संभावनायें व्यापक दिखाई देती हैं जिन को संक्षेप में इस पकार गिनाया जा सकता है :—

संभावनायें :

१. संग्रह, सम्पादन एवं प्रकाशन सम्बन्धी

हिमाचल के अनेक ऐसे क्षेत्र एवं अभावा बोली रुप हैं, जिनके लोकसाहित्य रुपों का सर्वेक्षण, संग्रह, सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य किया जा सकता है। ऐसे क्षेत्रों में ये कार्य जितनी शीघ्रता एवं गति से आरम्भ होंगे, वहां के लोकसाहित्य रुपों का संग्रहण उतना ही मौलिक होगा । आधुनिकता के प्रभाव बड़ी तीव्रता से लोकमानसी व्यापार को प्रभावित कर रहे हैं अतः उनकी परम्परा का उससे अछूता रहना कतई संभव नहीं हैं। लोकगायकों के (*Bio-data*) एकत्रित करना भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होगा।

२. अध्ययन एवं शोध–समीक्षा

पूर्व मूल्यांकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चम्बा, पांगी, लाहौल स्पीति, महासु, मण्डी, बिलासपुर, भरमौर आदि क्षेत्रों में परम्परित लोकगीतों–लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोकनाट्यों, कहावतों आदि के अध्ययन कार्य बड़े सीमित हुए हैं। आज के शोध–छात्रों लोकसाहित्यक विद्वानों से आशा एवं अपेक्षायें हैं कि वे इन क्षेत्रों में अछूते पड़े इस अध्ययन कार्य को करें।

प्रदेश विश्वविद्यालय ऐसे क्षेत्रों के अछूते विषयों को अनुसंधान का मुख्य लक्ष्य बनाकर इनके साहित्यक, सांस्कृतिक, भाषिक, नृवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करवाने के अवसर जुटाएं।

प्रदेश भाषा-संस्कृति अकादमी एवं भाषा संस्कृति विभाग भी जो योजनायें कार्यान्वयन में लाए हैं, उनके क्रियात्मक रुप दें। जो सर्वेक्षित सामग्री उपलब्ध है उसे वैज्ञानिक ढ़ंग से सम्पादित करवाकर प्रकाशित करवाएं ताकि उन दिशाओं में शोध या अध्ययन के कार्य बढ़ सकें, दोहरी कार्यशक्ति को नष्ट होने से रोका जा सके।

६. तुलनात्मक अध्ययन

हिमाचल प्रदेश के जनपदीय लोकसाहित्य रुपों के अन्तप्रदेशीय लोकसाहित्य रुपों से तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रदेश की लोकमानसिकता के सामाजिक, भावात्मक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैकासिक, नृवैज्ञानिक, ऐतिहासिक स्वरूप एवं अवस्थाओं को जांचा-परखा जा सकता है। इसी प्रकार सीमान्ती एवं भारतीय लोकसाहित्य के साथ भी-हिमाचली लोकसाहित्य रुपों को तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकित किया जा सकता है। यह क्षेत्र अभी पूर्णतया अछूता है।

४. स्वरांकन एवं छाँयांकन

प्रदेश के विभिन्न भागों में परम्परित लोक गीतों, लोक-गाथाओं, लोकनाट्यों की गेय शैलियों में बड़ी विविधता है। समय स्थान एवं गायक भेद के कारण उसमें गेयता के अपने रंग हैं। अतः आज जब कि सिने, रेडियो, टी. वी. प्रभाव बढ़ रहे हैं, इनकी धुनें लोकधुनों को संक्रमित कर रही हैं। आवश्यकता है हम अपने प्रदेश के लोक संगीत के परम्पारित सौंदर्य को उनकी मौलिक सरसता को सुरक्षित रखें। अत; लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोकनाट्य शैलियों का स्वरांकन एवं उनका सम्पादन, प्रकाशन तथा अध्ययन व्यापक संभावनायें लिए हैं। इस दिशा में बहुत ही कम कार्य हुआ है।

स्वरांकन के समानान्तर ही लोकगायकों, गाथा गायकों, नाट्यकारों का छायांकन भी आज की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। आज समाज का परम्परित स्वरुप परिवर्तित हो रहा है। ज्ञान को परम्परा में ग्रहण करने की प्रवृति समाप्त प्रायः हो रही है। परम्परित व्यवसाय बदल रहे हैं। अतः अब तक भी जो कुछ सुरक्षित है उसे

छायांकन द्वारा सुरक्षित रखने के प्रयास होने चाहिएं। ताकि भावी पीढ़ी को इस धरोहर के वास्तविक स्वरुप का ज्ञान हो सके।

५. शब्द कोश एवं व्याकरण

हिमाचल के लोकसाहित्य में लोकभाषा के अमूल्य शब्द भण्डार सुरक्षित है। लोकोक्तियां, कहावतें, मुहावरें इस भाषा रुप के सशक्त माध्यम हैं। अतः लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, लोकनाट्यों में उपलब्ध शब्द रुपों, कहावतों, मुहावरों का संग्रहण सम्पादन शब्द-कोश निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकता है। ऐसे प्रयास अकादमी की ओर से किए भी जा रहे हैं। संभावना है, इससे प्रादेशिक भाषा का केन्द्रीय स्वरुप स्थापित हो सकेगा। इसी दिशा में हिमाचली भाषा का व्याकरण भी सामयिक आवश्यकता है। इस पक्ष में भी वैज्ञानिक प्रयास की संभावना है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जहां हिमाचल लोक-साहित्य के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियां हुई हैं वहां इसमें कार्य करने एवं होने की भी व्यापक संभावनायें हैं। आवश्यकता है एक सच्चे, सही दृढ़ संकल्प की इसे समर्पित होने की।

लोक सात्यि में मंत्र तंत्र और टोणा का महत्व

डा० वेद प्रकाश अग्नि

लोक हृदय की सहज अभिव्यक्ति लोक साहित्य की विशिष्टता है। इसी से लोक साहित्य विना सरकारी संरक्षण के भी युगों तक जीता व फूलता-फलता रहता है और इसके तु फैल से कइयों को गरिमा प्राप्त होती है। वस्तुतः लोक-साहित्य लोक-हृदय के चिरसंचित अनुभूतियां और विश्वासों का ऐसा कोष है जिसका स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहता है और उसकी निर्झरिणी से कितने ही नया प्राण पा जाते हैं। इन लोक-विश्वासां में से मंत्र, तंत्र और जादू-टोणा का विश्वास भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

मंत्र के सूक्ष्म विवेचन में उतरना यहां अभीष्ट नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि मंत्र, चिन्यदु होता है। इसकी वर्णी ब्नाबट नादात्मक होती है। नाद अष्टधा-प्रकृति पुंज होने से सृजन, पालन और सहांर को त्रिधा शक्तियों से सम्पन्न होता है। सदगुरु द्वारा विवेक पूर्ण मंत्र प्रक्रिया सीखने वाली साधक मंत्र से प्राप्त समर्थ द्वारा लोक हित करने में समथ होता है। इसी लोकहित के कारण लोक में मंत्र का विश्वास न जाने कब से चला आ रहा है और जड़ विज्ञानिक दम्भ होते विश्वास को अन्धविश्वास उद्घोषित कर भी अभी तक इसे उखाड़ फैकने में असमर्थ रहा है। कारण स्पष्ट है मंत्र विज्ञान-धन सत्यानुभूति पर आश्रित हैं। उनका प्रभाव प्रत्यक्ष उद्भव में आने से ही वह लोक-मानस के विश्वास का आधार ही नहीं बने हैं अपितु दृढ़ता पूर्वक लोक-गाथा, लोक-कथा वार्ता आदि का रोचक सन्दर्भ भी रहे हैं लोक-गीतों में भी इसका पुष्ट प्रमाण मिलता है।

मंत्र तीन प्रकार के मोटे तौर पर माने जाते हैं —वैदिक, तांत्रिक और शावर–वैदिक मंत्र बड़े श्रम साध्य हैं, विधि आचरण की पवित्रता की अपेक्षा रखते हैं। तांत्रिक मंत्र अधिकांश राजसिह हैं। लोके-षणाओं की पूर्ति के लिऐ इन मंत्रों का प्रभाव आशु फल-प्रद माना जाता है। इन मत्रों में कतिपय ऐश्वर्यशाल मंत्र होते हैं और कुछ क्षुद्र मंत्र भी होते हैं। ऐसे मंत्रों का लक्ष्य जन साधारण को भय-भीत करना हानि पहुंचाना आदि होता है। अभिचार आदि के कामों में इसी प्रकार के मंत्रों का व्यवहार किया जाता है। किसी की गाय भेंस का दूध बिगाड़ देना। घर से नकदी पैसा, आटा–चावल आदि गायव कर देना उच्चाटन आदि करा देना, भूत या प्रेत बाधा पैदा करना आदि इन क्षुद्र मंत्रों का प्रयोजन होता है। वयस्तुतः ऐसे मंत्रात्मक व्यवहार अथ वर्ण विद्या का अंग माने जाते हैं। किन्तु लोक में इनके अनेक रूप प्रचलित है। यहां यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार नारारांसी लोक-धुनों से चयन कर सामवेदीय मंत्र उद्गीथियों के एक सहस्र से अधिक रूपों का संग्रह साम–संहिता में हुआ था। हो सकता है लोक–प्रचलित इन मंत्रों की भी ऐसी कोई सग्रहीत संहिता रही हो जिसका सीधा सबंध अथर्वन संहिता से हो यह और भी सभधीन प्रतीत होता है कि होन हो अथर्वण संहिता लोक प्रचलित मंत्रों का ही अति प्राचीन काल का संकलन प्रयास हो। जो भी हो मंत्र लोक विश्वास की सुदृढ़ और प्रशस्त मनो भूमि है जिसका विशद अध्ययन और अनुसन्धान होना चाहिये। इस दृष्टि से हिमाचल का गंभीर पर्वतीय भाग बड़ा सम्मृद्ध है और हिमालय पर्वत की भांन्ति इसकी शाखाएं सुदूर तिब्बत सिक्कम भूटान से होती हुई संपूर्ण नेपाल को समेट लेती है।

तंत्र का जहां तक संबन्ध है वह मंत्र का सहायक तत्व है। कई बार तो युक्तिपूर्ण ढंग से उपयुक्त पदार्थो के विन्यास से कुछ अद्भुत परिणाम पैदा किये जा सकते हैं जो तंत्र कहलाते हैं। दही और गुड़ मिलाने से बिच्छू पैदा करने का चमत्कार तंत्र है। शमशान की राख में इसी प्रकार का मनोविकार पैदा करना भी तंत्र है। तांत्रिक लोग ऐसे प्रयोग द्वारा लोक का हिताहित दोनों ही करते हैं। तंत्र की दृष्टि से हिमाचल के नाना पदार्थों, जड़ी–बूटियों तथा गूघी–बाण,

छरमरो (जो दशाङ्ग धूणे) में प्रयुक्त होता है आदि के गुणात्मक धर्म के विशद् विवेचन-विश्लेषण की जरुरत तो है पर प्रपंचक झंझो बाजों से इस प्रकार के रूर होने की आशा व्यर्थ है। इन्हीं मंत्र-तंत्रों से जुड़ा हुआ लोक विश्वास का जादू-टोणा है। मंत्र द्वारा मनोधारा तथा तंत्र द्वारा शारीरिक प्रकृति में अपेक्षित परिबर्तन को साध्य कर अभि-चारक यर्थष्ट लक्ष्य सिध्द करती है। जादू-टोणे के विश्वासी से अब भी लोक जीवन प्रभावित है। मंत्र-तंत्र की शावर प्रक्रिया अपेक्षाकृत सद्य फल प्रद और सौम्य है। इसका प्रभाव स्थाती नहीं होता है। किन्तु शाबर मंत्री की दुकानदारी अच्छी चलती है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि लोक-विश्वास के गारड़ी का चेले के साथ जो रोल है उसका अध्ययन बड़ा रोजक और विशद बिषय है। विष्णुबाहन गरुड़ से जुड़ी हुई गारुड़ी-बिद्या वस्तुत: मंत्रात्मक बिष-शयन की विद्या है। लोक में आज भी इसके द्वारा नाग-नागनियों के उपासक जहर उतारते हैं। अकादमी वाले बधाई पात्र हैं कि आखिर इस विषय में वह चौकना भी हो रहे हैं।

लोकसाहित्य संकलन/प्रक्रिया और वैज्ञानिक मूल्यांकन

— हेमकांत कात्यायन

किसी भी प्रदेश की समृद्धि का मूल्याकंन करना हो तो उसका एक तरीका यह भी हो सकता है कि वहां के लोकसाहित्य का गहराई से अध्ययन किया जाए।

हिमाचल प्रदेश में जहां एक ओर अपार जल व वन संपदा है उसी प्रकार दूसरी ओर लोकसाहित्य भी यहां की सांस्कृतिक निधि के रूप में बिखरा पड़ा है। लोकसाहित्य रूपी संपदा का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि उस में जनमानस का सोच, सांस्कृतिक मान्यता तथा सामाजिक दायित्वों का अध्ययन करने के सुअवसर मिलते हैं। समय के लम्बे अन्तराल में लोक संस्कृति के कुछ पृष्ठ तो संगृहींत हो गये, उन्हें पढ़ा जा सकता है लेकिन बहुत सा लोकसाहित्य जो मिट गया, जो संगृहीत न हो सका वह हमारे हाथ से निकल गया। संगृहींत न कर पाने के कारण आज भी बहुत सा लोकसाहित्य मिट रहा है। संगृहीत किया जा सकता था पर साधन व सम्पर्क के अभाव में वह उन्हीं लोगों के साथ मर मिट गया जिनके पास मौखिक रूप से उनके मन मस्तिष्क पर विद्यमान था।

आज यह अति आवश्यक हो गया है कि लोकसाहित्य की खोज और उसे संकलित करने के कार्य को लोकसाहित्यकार सामूहिक रूप से आगे बढाएं और इस ओर पूरे मनोयोग से कार्य करना आरम्भ करें। प्रदेश में मुख्य रूप से लोकसाहित्य के रूप में लोकगीत, लोकगाथाएं,

लोक कथाएं, प्रकीरण साहित्य, लोक नृत्य, लोक नाटक, नृत्य द्रमुएं, प्राचीन पाण्डुलिपियां, शब्दावली, संगीत, वाद्य, ताल संगीतलयादि रूप में संगृहीत हो सकता है । यह पहला कार्य है। दूसरा कार्य होगा अनुसंधान का, मूल्यांकन का और विषयफल ग्राम जनता के लिए सुलभ कराने का।

पिछले कुछ वर्षों में लोकसाहित्य के प्रति कुछ रुचि रखनेवालों ने अपने तौर पर काफी प्रयास किया है। वे प्रयास व्यक्तिगत होने के कारण कुछ उन्हीं के पास पड़े रह गये व कुछ छिटपुट लेखों के रूप में प्रकाशित हो गये। कुछ छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो गये। ऐसे प्रकाशन भी नाम मात्र को प्रकाशित हो गये जो दुर्भाग्यवश आज कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं।

लोकसाहित्य के संकलन का कार्य बहुत कठिन है । बहुत कम लेखक इस ओर प्रयास करते हैं और यकीनन वही लेखक इस ओर कार्य करने में तत्पर होता है जिसमें गज़ब का धैर्य रहता है। लिखने के लिए खोज और फिर साहित्य-रूप में प्रस्तुत करना । प्रकाशन की उम्मीद बहुत कम। प्रकाशन के लिए भी कोई विरला ही तैयार होता है-बहुत सी शिथिलता पैदा करने वाला कार्य होने के कारण वही इस ओर लेखकीय प्रयास करते हैं जिन्हें वास्तव में लोकसाहित्य से लगाव है।

हिमाचल में जहां गैरसरकारी तौर पर कुछ प्रयास हुए वहां लोक सम्पर्क विभाग हिमाचल प्रदेश के तत्वावधान में निकलने वाली लोक साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका हिमप्रस्थ ने सर्वाधिक कार्य किया। मुझे याद है जब श्री रामदयाल नीरज इस पत्रिका के सम्पादक हुआ करते थे तो सभी लेखकों को पत्र लिखकर लोकसाहित्य पर रचनाएं आमंत्रित करते थे। जब मैं मिलता तो कहते कि लोग अपने लोकसाहित्य की कदर नहीं करते हैं जबकि हमारा लोकसाहित्य काफी समृद्ध है। हिमाचल में लोकसाहित्यकार पैदा करने का सर्वाधिक श्रेय हिमप्रस्थ को जाता है। इसके बाद भाषा, कला व संस्कृति विभाग व अकादमी की ओर से हिमभारती का प्रकाशन कामोवेश इसी दृष्टि से आरम्भ हुआ और उसके कुछ समय बाद हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी ने सोमसी

का प्रकाशन आरम्भ किया । इन पत्रिकाओं के माध्यम से वहां लोक-साहित्य की लब्ध सामग्री प्रकाश में आने लगी और उसके साथ ही साथ लोकसाहित्य के लेखकों को भी प्रोत्साहन मिलने लगा। आज भी इन पत्रिकाओं की भूमिका सराहनीय है। लोकसम्पर्क विभाग का एक और प्रकाशन गिरिराज इस ओर प्रयास कर रहा है तथा इसी के साथ भाषा विभाग की एक और साहित्यिक पत्रिका विपाशा का प्रकाशन भी हालांकि इस दृष्टि से आरम्भ किया गया है।

विश्व के महान् देशों के लोकसाहित्य के क्षेत्र में की गई महान उपलब्धियों को देखें तो हैरानी होगी कि यूरोप और एशिया के बड़े राष्ट्रों का प्राचीन लोकसाहित्य मुकम्मल प्रकाशित हो चुका है। लोक साहित्य की किसी भी विधा को छोड़ा नहीं गया है।

लोकसाहित्य की लुप्त हो रही सामग्री को संकलित कैसे किया जाए, इस योजना पर गम्भीरता से विचार करें तो जितना कंटकभरा है उतनी ही चुनौतियां भी हैं। ये चुनौतियां कुछ आर्थिक दृष्टि से संग्रह-कर्ता के लिए हैं और कुछ संग्रह कार्य के समय आने वाली हैं। पहले हम संग्रहकर्ता के बारे में विचार कर लें।

पहले तो क्षेत्रीयस्तर पर यह तय करना होगा कि इस क्षेत्र के किस भाग में लोकसाहित्य के नाम पर क्या मिल सकता है। मिलने की सम्भावनाओं का पता चल जाने के बाद ऐसे लोकसाहित्य में रुचि से अधिक धैर्य और सही तौर पर अच्छे पारखी के रूप में कार्य करनेवाले संग्रहकर्ताओं का चयन करना होगा। केवल उन्हीं लोगों को एक योजना के तहत लिया जाए जिनके मन में लोकसाहित्य पर कार्य करने को उन्माद सी स्थिति हो।

ऐसे चयनित संग्रहकर्ताओं को एक कांट्रेक्ट के तहत जो कार्य उन्हें दिया जाए उसके हिसाब से अनुबन्ध किया जाए। उन्हें अनुबन्धित आर्थिक मदद का भुगतान मासिक हो।

संग्रह करने के उद्देश्य से दूरदराज़ या ग्रामीण क्षेत्रों में ठहरने के लिए सरकारी दरों पर विश्रामगृहों में ठहरने की सुविधा हों। संग्रहकर्ता को, अगर वह सरकारी अध्यापक या अन्य व्यक्ति है तो

उसकी विशेष छुट्टियों का प्रबंध हो। उन्हें दैनिक भता दिया जाए तथा संगृहीत सामग्री का पारिश्रमिक अलग हो।

संग्रहकर्ता के पास अपनी टार्च, नोटबुक, दो चार रंगों की पेंसिलें, कैमरा तथा टेपरिकार्डर अवश्य होना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकृत संग्रहकर्ता को ऐसे किसी प्रकार का मानसिक बोझ या तनाव नहीं होना चाहिए जो उसके कार्य में विघ्न डालने में मदद करे अन्यथा वह सही तौर पर सही व्यक्ति की खोज करके लोकसाहित्य संगृहीत नहीं कर पायेगा।

इतनी तैयारी होने के साथ संग्रह की प्रक्रिया शुरु हो सकती है। क्षेत्रों में भेजने से पहले एक ज़लास्तर का सेमिनार आयोजित करना होगा जिस में सभी प्रकार की सम्भावनाओं व कठिनाइयों के सही रास्ते की ओर कैसे बढ़ना है, के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा हो सकेगी।

दूसरे पहलु की ओर ध्यान दें तो संग्रहकर्ता को भी अपने तौर पर तैयार होना पड़ेगा। उसे खोजी प्रवृत्ति से कार्य आरम्भ करना होगा।

उसे यह देखना होगा कि किस व्यक्ति या महिला से उसे क्या पूछना है। जहां भो कुछ मिलता है उस व्यक्ति का नाम, गांव का नाम, उनके आसपास के क्षेत्र में किसी गायक गायिका का नाम, वृद्ध जो साहित्यिक रुचि रखता हो।

अन्य कार्यों की अपेक्षा लोकसाहित्य की खोज और संग्रह करने के उद्देश्य से निकला हुआ लेखक संकोची होगा तो बहुत कुछ उससे छूट जायेगा। उसे तो गायकों व ग्रामीण भोलीभाली शर्मीली, संकोची महिलाओं से लोकगीत गवाने हैं, नृत्य करवाने हैं, उनके पास बैठकर लोकगाथाएं सुननी हैं। उसे तो जिज्ञासु होना होगा। जनता के साथ तालमेल इतना हो कि जैसे उसी गांव या घर का अपना कोई व्यक्ति है।

संग्रहकर्ता को पूरे तौर पर न सही वहां की बोली का थोड़ा ज्ञान होना आवश्यक है। उसे उस क्षेत्र के कुछ कुछ रीति रिवाजों का भी

ज्ञान हो। सही शब्द कौन होगा उसे भी रेखांकित करना है। सुनने में और लिखने में किस शब्द में क्या अन्तर है। स्थानीय बोली में उसके अर्थ क्या है और हिन्दी में क्या अर्थ होंगे यह भी रेखांकित करना होगा।

जो कुछ संग्रहकर्ता संग्रह कर रहा है उसकी प्रामाणिकता के लिए संदर्भ स्रोत साथ-साथ लिखे जाने चाहिएं। इसके अलावा उस क्षेत्र के सही व्यक्ति से सम्पर्क करके कार्य शुरु करे तो संगृहीत सामग्री अवश्य ही प्रामाणिक होगी।

जब संग्रह हुआ सारा मसौदा तैयार हो गया तो इसक प्रकाशन और वैज्ञानिक मूल्यांकन का समय आयेगा। वैसे वैज्ञानिक मूल्यांकन रिसर्च स्कालरों का विषय है। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि उपलब्ध साहित्य लोकतत्वों से कितना परिपूर्ण है, ध्वनि परिवर्तन कितना है और अगर लोकगीत हैं, तो उसकी स्वरलिपि क्या है? इन विषयों को लेकर कार्य करना होगा। किसी लोक-गीत या लोकगाथा की दृष्टि क्या है-उसका तुलनात्मक अध्ययन भी करना आवश्यक होगा।

लोकसाहित्य के वैज्ञानिक मूल्यांकन में अध्ययन के क्षेत्र में तो उतरना ही पड़ेगा। अभिप्रायगत विशेषताएं क्या हैं तथा लोकतत्व कितना है? इसके साथ-साथ वैज्ञानिक मूल्यांकन के साथ-साथ सामाजिक व ऐतिहासिक मूल्यों की खोज भी करनी होगी।

अन्ततः, लोकसाहित्य के अन्तर्गत सामग्री संकलन की प्रक्रिया उतनी आसान नहीं है जितनी हम समझ रहे हैं। प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियां, पुराने रीति रिवाज, पूर्वाग्रह से भरा मन हतोत्साहित कर सकता है लेकिन संग्रहकर्ता को मानसिक रूप से अपने को तैयार करना होगा। आर्थिक अभाव आड़े न आयें तथा हर प्रकार से पूरा सहयोग इस महान कार्य के लिए मिले तो किसी भी प्रकार की आशंका नहीं कि यह कार्य पूरा न हो।

हिमाचल प्रदेश का लोकसाहित्य, उपलब्धियां और सम्भावनाएं

अमरसिंह रणपतिया

हिमाचल प्रदेश भारत का एक ऐसा प्रदेश है जहां की संस्कृति और लोक साहित्य पुरातनकाल की विविध धाराओं को संजोये है। संस्कृति की यह दुर्लभ थाती शताब्दियों से उसी रूप में सुरक्षित है। इसकी समृद्धि और विविधता उस समय तक प्रकाश और प्रसार में नहीं आई जब तक आधुनिक संचार के साधनों का प्रचार नहीं हुआ। कुल्लू, मण्डी, चम्बा, सिरमौर, बिलासपुर, कांगड़ा और किन्नर-प्रदेश का लोक साहित्य अपनी समृद्धि को केवल अपने क्षेत्र तक ही सीमित रखे था। आज के रेडियो, टेलिविज़न और प्रेस ने इस लोक साहित्य और संस्कृति को प्रकाश में लाया है। जब आकाशवाणी की सुविधा शिमला में नहीं थी उस समय जालन्धर स्टेशन से इने गिने पहाड़ी गाने सुनने को मिलते थे। शिमला स्टेशन की उपलब्धि पर मानो हिमाचल का जन जीवन ही गा उठा था। इसी प्रकार जब हिमाचल प्रदेश में पत्र-पत्रिकाओं की सुविधा उपलब्ध नहीं थी उस समय दिल्ली और अन्य स्थानों की कतिपय पत्र-पत्रिकाए, इने गिने सांस्कृतिक लेखों को ही प्रकाशित करते थे। उस समय अम्बाला से हिन्दी संदेश पंजाब और पहाड़ी रियासतों का प्रतिनिधित्व इस के अतिरिक्त करता था। इसके अतिरिक्त साप्ताहिक हिन्दोस्तान, धर्म-युग, आजकल और अन्य दैनिक और साप्ताहिक, पत्र-पत्रिकाओं में दुर्लभ सामग्री के कहीं कहीं दर्शन होते थे। धीरे धीरे हिमाचल सरकार ने अपनी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया जिन में पंचजगत और हिमप्रस्थ का मुख्य स्थान है। इन पत्रों के माध्यम से विभिन्न लेखों द्वारा हिमाचल के लोक साहित्य और संस्कृति के दर्शन होने

लगे। उस समय हिमाचल क अन्य जिलों में भी कुछ पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। चम्बा में किरण नामक पत्रिका श्री सत्यव्रत चौफला के प्रयत्न से प्रकाशित होने लगी। चम्वा में ही अन्य पत्रिका 'भावना' श्री संसारचन्द द्वारा सम्पादित होती रही। हिमाचल सरकार द्वारा कला, भाषा और संस्कृति विभाग और अकादमी अलग से खुल जाने के बाद सोमसी और हिम भारती त्रैमासिक पत्रिकाएं प्रकाश में आईं। इन पत्रिकाओं के माध्यम से हिमाचल के लेखकों ने अपने अपने लेखों द्वारा हिमाचल की संस्कृति को पाठकों तक पहुंचाया।

कालान्तर में विपाशा नामक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन हुआ तथा एक अन्य पत्रिका फिकरो-फन उर्दू भाषा में आरंभ की गई जो हिमाचल की संस्कृति को उर्दू भाषा के माध्यम से प्रकाश में लाई। श्री नारायणचन्द पराशर के प्रयत्नों से दिल्ली से 'हिमधारा' का पहाड़ी में प्रकाशन हुआ। 'हिमोत्कर्ष', हिमालय टाइमज़, ***Modern Review*** और *observer*, पत्रिकाएं भी प्रकाशन में आकर लोकसाहित्य को पाठकों तक पहुंचाने में प्रयत्नशील हैं। चम्बा से श्री देवराज बड़ोतरा द्वारा सम्पादित 'करेर' नामक पाक्षिक पत्रिका भी लोक संस्कृति और लोक साहित्य के प्रकाशन में महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्वकालीन अंग्रेज और अन्य विदेशी विद्वानों ने लोकसाहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है, जिन में कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें निम्नलिखित हैं :—

i. Accounts of Kunawar by Captain Gerald.
ii. History of Punjab Hill states by Hutchison & Vpgel.
iii. Antiquities of Chamba. J. Ph. Vogel
iv. Linguistic Survey of India. Grierson
v. *Bailley* ने भी भाषा पर महत्वपूर्ण कार्य किया है।
vi. इसी प्रकार *Simla Hill States* भी अंग्रेज विद्वानों की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।
vii. कैप्टन *Harcourt* द्वारा पुस्तक *Lahoul & Spiti* एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।
viii. Moorcrpft के विवरण भी कम महत्व के नहीं।

ix. Collin Roser ने कुल्लू के गांव मलाणा का अध्ययन कर विश्व के विद्वानो को पहला गणराज्य गांव कह कर चकित किया ।

अन्य योरोपियन विद्वानों में *Hermon Goets* जर्मन विद्वान् हैं जिन्होंने *Early Wooden Temples of Chamba* लिखकर अपना इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

हिमाचल के इस श्रेणी में आने वाले विद्वानों में, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और श्री यशपाल हैं। *Dr. Y.S. Parmar* द्वारा *Polyandary in the Himalayas* लिखी गई जो एक शोध ग्रंथ था। श्री टीकाराम जोशी की पुस्तक *Ethnograpy of Bushahr State* कम महत्व को नहीं ।

हिमाचल सरकार ने विभिन्न जिलों के गैजेटियर लिख कर सराहनीय कार्य किया है। इसी प्रकार सरकार ने हि० के 37 गांवों का सैंपल सर्वे कर इन गांवों के *Monographs* लिखे जिन में उन गांवों का लोक साहित्य परिलक्षित होता हैं ।

हिमाचल प्रदेश में शिक्षा का प्रसार हुआ। विभिन्न विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई । इन विश्वविद्यालयों में शोध कार्य के लिए सुविधायें मिलीं। हिमाचल के विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने क्षेत्र में शोध कार्य किए, उनमें से कतिपय प्रकाश में आए। इस कार्य पर कुछ उपलब्धियां इस प्रकार हैं :—

श्री विश्वचन्द्र ओहरी का पहाड़ी चित्रकला पर महत्वपूर्ण शोध कार्य हुआ है ।

डॉ० बंशीराम शर्मा ने किन्नर-लोक-साहित्य लिखकर एक दुर्लभ संस्कृति को प्रकाश में लाया है। डा० मौलूराम ठाकुर ने शोधग्रंथ पहाड़ी भाषा के अतिरिक्त, लामण, लोकनाट्य और लोकानुरंजन जैसी पुस्तकें लिखकर लोक-साहित्य पर प्रशंसनीय कार्य किया है

डा० विद्याचन्द ठाकुर ने कुल्लू भाषा में संस्कृत शब्दों का सापेक्ष अध्ययन कर प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने श्री नरेन्द्र अरुण के साथ मिलकर चम्बा की संस्कृति पर 'सुनयना' पुस्तक लिखी है। उन्होंने

शोधपूर्ण लेख लिखकर चम्बा संस्कृति को प्रकाश में लाया है। डॉ० पीयूष गुलेरी और डॉ० प्रत्यूष गुलेरी ने शोधग्रंथ लिखकर हिमाचल के लोक साहित्य को समृद्ध किया। इनके शोधपूर्ण लेख सदा ही पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलते हैं।

डॉ० नरेन्द्र उक्खल और डॉ० कांशीराम पठानिया ने क्रमशः सराजी भाषा और मंडी के लोकगीतों पर शोधकार्य किया है। डॉ० खुशीराम गौतम ने सिरमौरी लोक साहित्य पर शोधग्रंथ लिखा है। डॉ० गौतम व्यथित ने कांगड़ा के लोकगीतों पर शोधग्रंथ ही नहीं लिखा अपितु अन्य पुस्तकें लिखकर कांगड़ा लोक साहित्य को चार चांद लगाए हैं। डॉ० फुल्ल ने शोधग्रंथ के अलावा कई महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं। डॉ० कश्यप ने कुल्लू की संस्कृति पर कार्य किया है। इसके अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों ने हिमाचल की संस्कृति पर शोधग्रंथ लिख कर महत्बपूर्ण कार्य किया है।

इसके अलावा कई लेखकों ने पुस्तकें प्रकाशित करा कर हिमाचल की संस्कृति पर कार्य किया है। श्री अमरसिंह रणपतिया की पुस्तक हिमाचली लोक साहित्य, गद्दी जन जाति के संदर्भ में उपलब्ध है। लेखक द्वारा संकलित 'आदि प्रयोगात्मक शब्दावली' भाषा विभाग ने प्रकाश में लाई है। इस के अलावा इन्होंने कई शोधपूर्ण लेख लिखे हैं।

श्री सुदर्शन वशिष्ठ ने भी कई पुस्तकें लिखी हैं। श्री जयदेव किरण, श्री हरिप्रसाद सुमन, श्री चन्द्रवर्कर, श्री शबाब ललित तथा डॉ० वेदप्रकाश अग्नि के कार्य की प्रशंसा करना अनिवार्य है। श्री रामदयाल नीरज और श्री किशोरीलाल वैद्य ने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। इन्होंने हिमप्रस्थ का सफलता से कई वर्षों तक सम्पादन किया।

डॉ० आत्माराम शर्मा ने इस क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया है। श्री आनन्द कुमार, श्री एस एस शशी ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है।

श्री महाराज कृष्ण कॉव और श्री युत श्री निवास जोशी के शोधपूर्ण कार्य और निर्देशन को लोक साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सर्व

श्रेष्ठ कहना अति श्योक्ति नहीं होगी। इस क्षेत्र के अन्य लेखक डॉ० वी० एल. कपूर जिनकी पुस्तक हिमाचल इतिहास और परम्परा सर्व श्रेष्ठ कृति है। श्री पी० एन० सेमवाल, श्री भवानी दत्त शास्त्री, श्री कैलाश भारद्वाज, श्री चन्द्र शेखर वेबस, श्री योगेश गुलेरी, श्री अमरदेव अंगीरस, श्री तेजराज पूंगा, श्री सुन्दर लोहिया, श्री मोतीलाल घई, आचार्य दिवाकर, श्री ब्रह्म दत्त, सुश्री मधुबाला, डॉ० मनोहर लाल, डॉ० शिवकुमार, श्री पन्नालाल जोगटा, श्री तेज राज, श्री जसबीर चावला, डॉ सत्यपाल शर्मा, शारदा अमर, तुलसीरमण, श्री डी० सी० चम्बयाल, श्री केशवचन्द्र, कुमारी कुसुम, श्री लेखराज शर्मा. श्री लेखराज चौहान, श्री मनसाराम, डा० ओमप्रकाश सारस्वत, सुश्री मीनाक्षी, श्री ओमप्रकाश भारद्वाज, आचार्य दिवाकर दत्त, श्री रमेश जसरोटिया, श्री अशोक सरीन, श्री रत्नचन्द शर्मा, श्री देविन्द्र नाथ, श्री मस्तराम चौहान, श्री विजय कुमार, श्री प्रेम शर्मा, श्री सूरत राम ठाकुर, श्री दीनानाथ गौतम, कमल शर्मा व श्री हरिचन्द पराशर जिन्होंने सचिव अकादमी रह कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन विद्वान् लेखकों ने अपने लेखों के माध्यम से महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रो० मैथली प्रसाद ने सांस्कृतिक लेख लिखकर हिमाचल के लोक साहित्य को समृद्ध किया है।

श्री विनोद हिमाचली की पुस्तक त्रिगर्त तथा *L. P. Panday* की पुस्तक प्राचीन हिमाचल महत्व पूर्ण उपलब्धियां हैं तथा श्री ओमचन्द हांडा की पुस्तक पर्वतीय संस्कृति महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं व श्री सुखदेव चिब ने भी महत्वपूर्ण प्रकाशन किया है।

श्री सु० सेठी, श्री चमनलाल चमन, श्री भगतराम द्विवेदी ने अपने लेखों से हि० संस्कृति को प्रकाश में लाया है।

स्वर्गीय श्री विद्यासागर, जयदेव बड़ोतरा तथा जयवंत राम ने हि० की संस्कृति प्रकाश में लाने के लिए विशेष योगदान दिया।

कई अन्य लेखकों और उनकी कृतियों का वर्णन इस छोटे से लेख में करना असंभव है अतः लेखक उनसे क्षमा मांगता है।

भाषा और संस्कृति विभाग और हिमाचल प्रदेश अकादमी ने कई प्रकाशन निकाल कर हिमाचल की संस्कृति और लो० सा० को समृद्ध किया हैं जिन में लोकगीत, मुहावरे, प्रयोगात्मक शब्दावली और कथा सरवरी (दो भागों में) प्रसिद्ध प्रकाशन हैं । कला, भाषा और संस्कृति अकादमी आजकल पहाड़ी शब्दकोष के लिए शब्द संकलन में व्यस्त है।

संभावनाएं :—हिमाचल का लेखक दुर्लभ सामग्री एकत्रित करने में भरकस प्रयत्न कर रहा है। निकट भविष्य में ये अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर को खोज निकालने में सफल होगा। प्रदेश के लोकगीतों का खज़ाना अछूत पड़ा है जिसे प्रकाश में लाना वांछनीय है। प्रदेश की पहाड़ी भाषा अमूल्य निधि है जिस पर कार्य किया जा सकता है। प्रदेश की संस्कृति को प्रकाश में लाने का श्रेय विविध पत्र पत्रिकाओं को है जिन की उत्तरोत्तर बृद्धि होना अनिवार्य है।



लोक साहित्य द्वारा लोकमानस की अभिव्यक्ति

डॉ० नीलमणि उपाध्याय

लोकसाहित्य लोक-मानस तथा उसकी आशाओं-आकांक्षाओं अभाव-अभियोगों, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य, उल्लास, उमंग, निराशा-अवसाद व अन्याय भावनाओं की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। लोक-साहित्य लोक अथवा जनता-जनार्दन के सामान्य व सहज स्वरूप से सम्बन्धित होने के कारण उसमें भी वही सहजता, सरलता तथा निश्छलता विद्यमान है। इसी कारण लोक-साहित्य इतना जनप्रिय व चिताकर्षक रहा है।

शिष्ट साहित्य शिष्ट व शिक्षित साहित्यकारों द्वारा रचित भाषा व अभिव्यक्ति के शिष्ट और परिनिष्ठित स्वरूपों को अपने भीतर समन्वित करते हुए सार्वदेशिक व सार्वजनीन आदर्श को प्राप्त करता है। इस सप्राप्ति में वह कालान्तर में दुरुह व दुर्वेधि बन जाता है और सामान्य जन उसका रसास्वादन करने में असमर्थ हो जाते हैं। आप शिष्ट साहित्य की रसानुभूति पाने के अधिकारी तभी बन पाते हैं जब आप उसकी शैली, भाव-भंगिमाओं तथा अभिव्यक्ति की दुरुहताओं से परिचित हों। अतः शिष्ट साहित्य के रसास्वादन से पूर्व एक उच्च-स्तर की शिक्षा-दीक्षा तथा साहित्य के अध्ययन आकलन का होना एक अनिवार्य इति है जब कि लोक-साहित्य में इस प्रकार के किन्हीं अनुबन्धों व शर्तों का होना आवश्यक नहीं हैं।

लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य के सम्बन्ध को हम भारतीय भाषाओं के साहित्य के विकास में देख सकते हैं। वैदिक साहित्य भी ऋषि-मुनियों के अरण्यो की तपस्या व प्राकृतिक शक्तियों के प्रति

सौन्दर्याभिव्यक्ति का ही प्रतिफलन है। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद के उषासूक्त, नदियों के प्रति भावोद्गार वाली ऋचाएं,अग्नि, वरुण आदि देवताओं के प्रति श्रद्धाभावना वैदिक साहित्य का उत्स है और फिर यही सहज व सरल साहित्य, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, कल्पसूत्रों आदि में दुरुहता तथा दुर्बोधिता को प्राप्त करता गया है।

वदिक साहित्य के उपरान्त लौकिक संस्कृत के साहित्य पर यदि दृष्टिपात करें तो वैदिक साहित्य की सहजता व निश्छलता कम होकर शिष्ट जनों की अभिव्यक्ति का वह माध्यम बनती गई। श्रेष्ठ साहित्य की भव्यता के साथ साथ वह चित्र व अन्य शब्दालंकारों के जन्तर-मन्तर में फंसकर कृत्रिम व दुर्वोध होती गई है। सहस्राब्दियों की यह साहित्य धारा अन्ततः जनमानस से इतनी दूर हो गई कि लौकिक संस्कृत मात्र शिष्ट व अत्यन्त शिक्षित जनों की ही भाषा बनकर रह गई। यद्यपि इसने शिष्ट भाषा के रूप में सार्वदेशिक व सार्वभौम रूप धारण कर लिया परन्तु शिक्षित व उच्च वर्ग तक ही सीमित होने के कारण यह जनभाषा न रह पाई और तभी पाली अन्य प्राकृत जन भाषाओं का पदार्पण हुआ।

पाली व अन्य प्राकृत जो लोक-भाषायें थी वे भी लौकिक संस्कृत के समान ही कालान्तर में साहित्य की कृत्रिम भाषा बन गई। जैसे ही इन्होंने लोकभाषा की सहजता को खोया ये जनसामान्य से दूर हो गई और तब साहित्य क्षेत्र में 'अपभ्रंश' का पदार्पण हुआ। अपभ्रंश जन साधारण की भाषा थी कुछ शिष्ट व ग्राम जात लोगों को यह कुछ विकृत सी, भ्रष्ट सी लगी उन्होंने उपहासास्वद 'अपभ्रंश' नाम दे दिया। यह अपभ्रंश भी कालान्तर में उच्च साहित्य का ही माध्यम बन गई और तब हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं का प्रादुभार्व हुआ।

लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भारतीय आधुनिक भाषाओं के भाषागत व साहित्य सम्बन्धी विकास को देखते हुए कुछ तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं :—

1. जन सामान्य लोकभाषा को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम

बनाते हैं।

2. लोकभाषा कालान्तर में व्याकरण, साहित्यरूढ़ियों तथा दरबारी संस्कृति में आबद्ध होकर रूढ़ तथा दुरुह हो जाती है। सम्भवत: जनसामान्य से अपनी विशिष्टता दिखाने के लिए भाषा व साहित्य को वे इतने ऊंचे स्तर तक ले जाते हैं जिससे उनकी शिक्षा व संस्कृति की जनसामान्य से अलग पहचान बन सके। इस प्रकार से शासक और शासित, राजा और प्रजा, शोषक और शोषित, उच्च तथा निम्न-मध्य वर्ग के मध्य एक विभेदक प्राचीर बन जाती है जिससे अभिजात वर्ग अपनी विशिष्टता बनाए रखे।

3. जनसामान्य के लिए जब उनकी ही एक समय की सरल व सुबोध भाषा उच्च व शिष्ट भाषा तथा साहित्य के उच्चासन पर बैठ जाती है तो वे पहिले से प्रचलित या वर्तमान में प्रयुक्त लोकभाषा का आश्रय लेते हैं। अतः तब एक शिष्ट व साहित्यिक भाषा तथा उसके पश्चात् सरल जनभाषा का प्रचलन बढ़ जाता है।

4. अत: लोकभाषा और उसका साहित्यिक भाषा बनना और फिर साहित्यिक भाषा के स्थान पर अन्य लोकभाषा के प्रचलन का एक क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी क्रम का लौकिक संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से भारतीय भाषाओं के रूप में विकास देखा जा सकता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह क्रम ऐसा ही चलता रहेगा। अब भी तो हिन्दी की अपनी अनेक बोलियां हैं। इन बोलियों के अपने लोकगीत, लोककथाएं, लोकगाथाएं व अन्य लोकसाहित्य है। यह सब होते हुए भी वे हिन्दी के शिष्ट और परिनिष्ठित बोले गए रूप को जानते-पहचानते हैं। अत: किसी ने ठीक ही कहा है कि हिन्दी जनता, हिन्दी समझने वाली जनता है हिन्दी बोलने वाली नहीं। अधिकांश हिन्दी जानने वाली जनता इसी कोटि की है।

भारत यद्यपि एक विकसित देश नहीं तो वह विकासशील देशों की कोटि में अवश्य आता है। भारत में भी शिक्षा तथा संस्कृति का प्रसार उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। जैसे जैसे हमारे यहां भी साक्षरता बढती जायेगी तथा हम भी विकसित पाश्चात्य देशों के समान शत-प्रतिशत साक्षरता को समाप्त कर लेंगे तब अशिक्षित और शिक्षित, उच्च तथा निम्न वर्ग तथा अन्य सामाजिक विषमताएं दूर हो जायेंगी तब लोकभाषा और शिष्टभाषा में निहित वैषम्य भी दूर हो जायेगा। तभी लोकभाषा से साहित्यिक भाषा तथा तदनन्तर लोकभाषा का क्रम व संक्रमण अवरुद्ध किया जा सकेगा।

शिक्षा के प्रसार, भाषा व इसी विकास में यह एक नई उद्‌भावना है। इसी विकास के आनुषंगिक रूप में बोलियों का लोकसाहित्य तथा परिनिष्ठित भाषा का शिष्ट साहित्य दोनों समानन्तर रूप से विकास को प्राप्त करेंगे। तब वे एक दूसरे के विरोध न होकर सहायक बन पायेंगे। अतः आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि लोकसाहित्य की समृद्ध परम्परा को बनाये रखते हुए परिनिष्ठित भाषा के साहित्य का भी उत्तरोतर विकास करें और तब यह लोकसाहित्य तथा शिष्ट साहित्य का मणि-कांचन योग सम्पन्न-सम्भव हो पायेगा। तभी लोकसाहित्य की सहजता व सरलता का शिप्ट साहित्य के अभिजात्य संस्कारों से समन्वय हो पायेगा जो एक वाञ्छित स्थितिमात्र न रहकर आज के विकासशील भारत की अनिवार्यता बनती जा रही है।

लोक-साहित्य के संग्रहण, संकलन, प्रकाशन का महत्व, समस्याएं, समाधान

प्रो० खुशी राम शर्मा

लोकसाहित्य :–लोकसाहित्य शब्द दो शब्दों के योग से बना है, लोक और साहित्य। लोक क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे और कब हुई। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। भारतीय और यूरोपीय भाषाविद् भी इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं। ऋग्वेद में "देही लोकम्" का प्रयोग हुआ है। यहां लोकम् का प्रयोग स्थान के लिए किया गया है। वेदों में लोक दो प्रकार के माने गये हैं– पार्थिव और दिव्य। किन्तु 'ब्राह्मण ग्रन्थ' वृहदारण्यक उपनिषद् और वाजसनेई संहिता आदि ग्रन्थों में 'लोक' के सम्बन्ध में ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता।

हिन्दी में 'लोक' शब्द ऐंग्लो–सेक्सन शब्द 'फोक' जैसा ही है। *Folk* शब्द की उत्पत्ति *Flok* से हुई है। जर्मन में इसे *Volk* लिखा जाता है। अंग्रेजी में इस फोक का प्रयोग अनपढ़, असंस्कृत और मूढ़ समाज के लिए होता रहा है। किन्तु अब इसका प्रयोग सर्व–साधारण के लिए होने लगा है। 'फोक' शब्द हिन्दी के 'लोक' का ही पर्यायवाची कहा जा सकता है। परन्तु देखा जाए, तो लोक शब्द 'फोक' से अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करने वाला है। वह फोक से अधिक प्राचीन भी है।

वास्तव में जन–समाज। ही 'लोक' कहा जा सकता है। इस शब्द से वर्ग भेद सहित, विस्तृत और प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि के

साथ आधुनिक सभ्यता, संस्कृति का कल्याणमय विकास निहित है। आधुनिकसाहित्य की नई प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग जब गीत, वार्ता, कथा, संगीत आदि के साथ होता है तो इससे उस विशेषता का अर्थ लिया जाता है, जिस में पूर्व संचित परम्पराएं भावनाएं, विकास और आदर्श सुरक्षित रहते हैं। जिस लोक-साहित्य को कुछ समय पहले अनपढ़, गंवारू, निम्न-स्तरीय और अनुपयोगी समझा जाता था, वह अब नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाला माना जाने लगा है। भारत का किसान यहां के गांव, यहां की ग्रामीण महिलाएं भारतीय लोक की वास्तविक शक्तियां हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में 'जनता तो हमारे उदीयमान राष्ट्र की महती देवता है। हमारे सब आयोजनों के मूल में और सब विचारों के केन्द्र में जनता प्रतिष्टित है। यह सत्य जनपदीय अध्ययन का मेरुदण्ड है। जनता के जीवन के साथ हमारी सहानुभूति और आस्था जितनी दृढ़ होगी, उतना ही अधिक हम जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता को समझ पाएगे।'

लोकसाहित्य के संग्रहण, संकलन-प्रकाशन का महत्व

लोक-साहित्य के संग्रहण आदि का निम्नलिखित महत्व है :—

1. लोकसाहित्य लिपिबद्ध न होकर कण्ठस्थ होता है, अतः इससे महिलाओं तथा पुरुषों के मस्तिष्क की महिमा एवं उत्कर्ष देखने को मिलते हैं। जिन ग्रामीणों को हमारा शिक्षित समाज अशिक्षित, मूर्ख, फूहड़ और हीन समझता है-उनके मन-मस्तिष्क में कैसे मधुर, सरस तथा कोमल भाव भरे रहते हैं, इसका ज्ञान हमें लोकसाहित्य के अनु-शीलन से भली भान्ति हो जाता है।

2. लोक-साहित्य के संग्रह से प्राचीन इतिहास, धार्मिक प्रवृत्तियों, घटनाओं, विश्वासों और तत्कालीन मनोभावों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

3. लोक-साहित्य में कहानियों, पहेलियों और पद्य-वद्ध कहावतों के अतिरिक्त लोक-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि यह कहा जाए कि लोकसाहित्य गीतमय ही है तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन

लोकगीतों द्वारा हम अपने देश, प्रदेश और समाज के विभिन्न रीति-रिवाजों, तीज-त्यौहारों, प्राचीन संस्कारों और रहन-सहन आदि का परिचय पा सकते हैं और इस परिचय के आधार पर हम अपने वर्तमान जीवन में आवश्यक सुधार कर सकते हैं।

4. लोकगीतों द्वारा माता-पिता के लाड़ प्यार, पति-पत्नी के पुनीत सम्बन्ध, भाई-बहिन के पवित्र स्नेह-बन्धन, परिवारों के मेल-मिलाप, गार्हस्थ्य-जीवन की विविध समस्याओं और यहां तक कि राष्ट्रीय समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर हम अपने वर्तमान समय में उत्पन्न विषमताओं को दूर कर सकते हैं एव सास-बहू के झगड़े, ननद भौजाई के वैमनस्य, पति पत्नी के मनमुटाव आदि से सम्बन्धित अनेक गीत पढ़ कर उनसे बचने के उपाय सोचे जा सकते हैं।

5. इन लोकगीतों की जानकारी से आज के कवियों को भी पर्याप्त लाभ हो सकता है। आज बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर जो कवि अनेक बेतुकी कविताएं करते हैं, उन्हें इस भावना-पूर्ण गीतों से अपने भावपक्ष को परिष्कृत करने का अवसर मिल सकेगा।

6. लोक-साहित्य के संग्रह एवं संकलन से हमें अपने साहित्य को समृद्ध करने का अवसर मिलता है। हम अपनी वर्तमान भाषा में अपने पुराने विस्मृत मुहावरों, कहावतों, पहेलियों और शब्दों को सम्मिलित कर के अधिक सम्पन्न बना सकते हैं।

7. कण्ठस्थ साहित्य के सम्पादन अथवा लिपिबद्ध करने से अपनी प्राचीन निधि को जो प्रतिदिन लुप्त सी होती जा रही है नष्ट होने से बचा कर अक्षुण्ण बनाया जा सकता है।

8. लोक-साहित्य के प्रकाशन से गांवों को शहरों के निकट लाया जा सकता है। नगर और गांव के बीच की खाई लोक-साहित्य के माध्यम से पाटी जा सकती है।

9. आज हमारे देश को भावनात्मक एकता की अत्यधिक अवश्यकता हैं। अतः लोक-साहित्य राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ बनाने का एक सशक्त माध्यम है।

समस्याएं लोक–साहित्य के संग्रहण एवं संकलन के विषय में निम्नलिखित समस्याएं हैं :—

1. पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा और विचारधारा के प्रसार के कारण आज जन–समुदाय का अपनी धरती से सम्बन्ध टूट गया है।

2, शिक्षित वर्ग को सामान्य लोगों की भावनाओं एवं आकांक्षाओं से कोई विशेष सहानुभूति नहीं रही है।

3. अभिजात्य शिक्षित समुदाय द्वारा सामान्य लोगों के लोकाचार, उनको लोक–संस्कृति और उनके लोक–साहित्य को यह कह कर ठुकराना कि उसमें सुरुचि और सौष्ठव का अभाव है।

4. जनसाधारण में शिक्षा की कमी।

5. लोकसाहित्य के अप्रकाशन के कारण उसकी महत्ता–मधुरता और सरसता की जानकारी न होना।

6. लोकसाहित्य को अशिक्षित, गंवारू, फूहड़ और ग्रामीणों का साहित्य कहकर उसे नकारने का यत्न करना।

7. लोक साहित्य के संग्रह एवं संकलन करने के लिये साधनों तथा प्रोत्साहन का अभाव।

8. संग्रहीत साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध न हो सकता आदि।

समाधान :- लोकसाहित्य से सम्बन्धित समस्याओं का निम्नलिखित उपायों से समाधान किया जा सकता है :—

1. आकाशवाणी और दूर दर्शन के कार्यक्रमों में लोककथाओं लोक वार्ताओं और लोक गीतों को अधिकाधिक समय दिया जाए।

2. पत्र–पत्रिकाओं, समाचार पत्रों एवं अन्य सरकारी अर्धसरकारी माध्यमों द्वारा लोकसाहित्य का प्रचार तथा प्रसार करके उसे लोक–प्रिय बनाया जाए।

3. लोकसाहित्य के संग्रहण के लिये लेखकों कवियों तथा विद्वानों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाए।

4. लोकसाहित्य के संग्रह, संकलन प्रकाशन में रतकवियों, लेखकों को समुचित प्रोत्साहन दिया जाए।

5. कई लेखक साधना भाव के कारण अपने साहित्य को प्रकाशित करने, करवाने में असमर्थ होते हैं। अतः संग्रहीत लोक साहित्य के प्रकाशन के लिए आवश्यक साधन जुटाए जाएं।

6. प्रकाशित लोकसाहित्य की रचनाओं की प्रदर्शनी एवं मंचन का प्रबन्ध किया जाए।

7. लोकसाहित्य के लेखकों का विशिष्ट साहित्यिकों के समान आदर सम्मान किया जाए।

हर्ष का विषय है कि हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी तथा भाषाविभाग अपने प्रदेश के लोकसाहित्य के संग्रहण, संकलन एवं प्रकाशन करवाने में अपने जन्म काल से ही प्रयत्नशील हैं और उस ने इस दिशा में पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की है। आकाशवाणी शिमला भी हिमाचली लोक साहित्य को लोक प्रिय बनाने में पूर्ण प्रयास रत है। हिमाचली साहित्यकार भी अपने सीमित साधनों द्वारा लोक साहित्य को लिपिवद्ध करने में जुटे हुए हैं। परन्तु अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना प्रतीत होता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा और विचारधारा ने हमारा सम्बन्ध अपनो धरती से बिल्कुल तोड़ सा दिया है। नगरों की मिलों, कारखानों, व्यापारी मंडियों, स्कूलों, कालेजों विश्वविद्यालयों, सरकारी कार्यालयों, फिल्मों, रॉक एन एल, टूइस्ट, रम्बा साम्बा, चा-चा-चा औरबीटल संगीत ने हमें हमारी धरती से अलग कर दिया है। अतः हमारी धरती का जो साहित्य इधर-उधर बिखरा हुआ हैं, उसे समेटना आवश्यक है। उसमें हमारे मनों की धड़कनें अभी भी बची हुई हैं। उसके संग्रह और प्रकाशन आदि से हमारी सभ्यता, संस्कृति और वास्तविकता स्थायी रह सकेगी।

लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का सम्बन्ध

पृथुराम शास्त्री

लोक-साहित्य 'शब्द' लोक और 'साहित्य',इन दो शब्दों के मेल से बना है। यहां लोक शब्द उस मानव–समूह का बोधक है जिसे आधुनिक भाषा में जन साधारण कहा जाता है और जिसे अति सुशिक्षित अति सुसंस्कृत भी नहीं कहा जा सकता तथा जो अपनी सहज स्वाभाविक अवस्था में गतिशील रह कर भी आधुनिक तथाकथित (पाश्चात्यता प्रभावित) सभ्य समाज में न पहुंच पाया हो। उसकी मानसिकता की मौखिक अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य लोकसाहित्य कहा जाता है।

● परिभाषा[1]

1. एक अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा गठित (संकलित) वह मौखिक अभिव्यक्ति जो सामान्य लोक–समूह की मानसिकता को व्यक्त करती हो, लोक साहित्य है।

2. लोक मानस से प्रतिबिम्बित, श्रुत्युपलब्ध, अविदित कर्तृक कृति को लोक साहित्य कहा जाता है।

3. अज्ञात–कर्तृक वह कृति जो व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होकर भी समूचे जन समूह की मानसिकता को व्यक्त करती हो या उसका प्रतिनिधित्व करती हो लोक साहित्य है।

क्षेत्रः—

लोक साहित्य का क्षेत्र अति विस्तृत है। सभी क्षेत्रों के बहुविध

---

1. किन्नर लोक साहित्य' के आधार पर।

समाज के सभी वर्गों की परम्पराएं, रीति-रिवाज, रूढ़ियां, अन्ध-विश्वास, विवाहगीत, संस्कार गीत, मरण गीत, अवसरोचित गेय गालियां, लोकभाषा में रचे सावर मंत्र, लोक कथाएं, लोक-देवताओंके स्थान विशेष से सम्बद्ध कथानक, भूतव्याप्त वृक्ष, तालाब विशेष, लोक-भाषा की देवस्तुतियां, नृत्यगीत, लोकोक्तियां, मुहावरे आदि परम्परा प्राप्त सभी कुछ लोक साहित्य में समाविष्ट है।

राजा रसालू, मियां मैनेजर, मोहणा, रामसिंह पठाणियां, गंभरी, चञ्चलो, रतनी, कुंजू, गंगी, राजा-राणी की कथा, काणे राक्षस की कथा, अठकण्डा की कथा एवं गीत,भंगड़ा, झमाकड़, डन्डू नृत्य, गिद्दा, रास, भगत, स्वांग, गुग्गा, राणा के गीत (बारें) शिव पार्वतीसे सम्बद्ध जंगम गीत, रली पूजा गीत, यात्रा गीत, माता की भेटें तथा गठ्ठी नीं धेला, चड़ना रेला आदि लोकोक्तियां सभो कुछ लोक साहित्य में अन्तर्भूत है।

विभिन्न स्वरूप

विभिन्न क्षेत्रों का लोकचिन्तन विभिन्न स्वरूपों में प्रस्फुटित होता है। इसी कारण एक ही कथानक विभिन्न क्षेत्रों के अनेक लोक समूहों में जाकर अनेक रूप धारण कर लेता है। जैसे जालन्धर असुर की की उत्पत्ति की विभिन्न रचनाओं में पृथक् पृथक् स्वरूप (वर्णन) उपलब्ध हैं।

स्थान

सामाजिक संस्कार, चौपाय, गोष्ठियां, लोकोत्सव, पर्वोत्सव, यात्राएं, मेले आदि के अवसरों पर लोक साहित्य का प्रदर्शन, प्रस्फुटन तथा उपलब्धि होती है। उक्त आयोजनों को लोक साहित्य का प्रेरणा स्रोत भी कहा जा सकता है।

यही लोक साहित्य किसी सहृदय मनोषी द्वारा संकलित होकर जब यथा विधि ग्रंथ का आकार धारण कर लेता है तब इसे कथा साहित्य की संज्ञा मिल जाती है। पुराण, उप पुराण, औपपुराण पुराण संहिताएं, माहात्म्य आदि कथसाहित्य का उद्भव लोक

साहित्य से ही हुआ है । महाभारत, बृहत्कथा मंजरी, दशकुमार-चरितादि रचनाएं भी कथा साहित्य में समाहित हैं ।

उदाहरणतः भस्मासुर का कथानक संस्कृत साहित्य में अनुपलब्ध समझा जाता था । किन्तु यह लोक साहित्य में विद्यमान था । कालान्तर में जब इसका संकलन मुद्गल पुराण और 'जालन्धर माहात्म्य' (जालन्धर पीठ पुराणकम्) में हुआ तब वही लोक साहित्य से कथा साहित्य में परिवर्तित हो गया । शम्बर अथवा जालन्धर का आर्यों के साथ युद्ध लोक साहित्य से ही शिव पुराण, पद्मपुराण में संकलित हुआ है । पौराणिक मिथक के रूप में शम्बरार्य युद्ध शिव जालन्धर युद्ध बन गया है ।[1]

स्थान

इसके स्थान यज्ञादि धार्मिक आयोजन, उत्सव, पर्व विशेष, देव स्थान, यात्रा व सरादि हैं । आज भी जन्मदिन, विवाह संस्कार, कामनापूर्ति, परीक्षा में उत्तीर्णादि के अवसरों पर सत्यनारायण की कथा के आयोजन एवं श्रावण का प्रचलन समाज में यथावत् विद्यमान है ।

शिष्ट साहित्य

लोक साहित्य अथवा कथा साहित्य ही जब सुसंस्कृत कवि प्रतिभा से परिमार्जित तथा सरस हो उठता है तब वही शिष्ट साहित्य बन जाता है ।

परिभाषा

आचार्यों द्वारा रचित लक्षण ग्रंथों की परिभाषाओं को चरितार्थ करने वाला अथवा लक्षण ग्रंथों के विधि निषेधों को कसौटी पर खरा उतरने वाला अनुशासित, परिमार्जित, परिष्कृत, सरस एवं हृद्य साहित्य ही शिष्ट साहित्य कहा जाता है ।

शिव पुराणादि कथा साहित्य में विद्यमान शिव पार्वती के प्रणय प्रसंग को आधार बना कर ही महाकवि कालिदास ने 'कुमार सम्भव'

1–म. पं. राहुल सांकृत्यायन की मान्यता ।

महाकाव्य की रचना कर इसे शिष्ट साहित्य का गौरव प्रदान किया है। शिव पुराण के शिव-किरात युद्ध के आधार पर ही महाकवि भारवि ने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की रचना कर उसे शिष्ट साहित्य का पद प्रदान किया है। गुणाढ्य की कथा मंजरी के महाराज उदयन के कथानक को आधार बना कर महाकवि भास ने 'स्वप्न वासवदन्त्तम्' नाटक की रचना कर उसे कथा साहित्य से शिष्ट साहित्य में परिवर्तित किया है। महाकवि कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशोयम्' तथा महाकवि माघ के 'शिशुपाल वध' ने भी रससिद्ध साहित्यकारों की कवि प्रतिभा से अनुशासित होकर ही लोक साहित्य से शिष्ट-साहित्य में पद प्राप्त किया है।

आंचलिक लोककथाओं में गुग्गा राणा की लोककथा अति प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। गुग्गा को देवत्व भी प्राप्त है। पुण्य तिथि पर उसकी पूजा एवं श्राद्ध का प्रचलन भी है। इसी लोककथा की 'बाछला' एक नारीपात्र है। उसको आधार बनाकर राष्ट्र द्वारा पुरस्कृत पं० दुर्गादत्त शास्त्री ने 'वत्सलम्' नामक नाटक की रचना करके उस लोक कथा को शिष्ट साहित्य का पद प्रदान किया है।

महाकवि कालिदास का खण्डकाव्य मेघदूत विरहव्यथा पर आधारित है। कवि कल्पना प्रसूत होने पर भी इस तथ्य से कौन इनकार कर सकता है कि काव्यकार की दृष्टि में सीताहरण के पश्चात् विरहविक्षिप्त श्रीराम की विरह व्यथा, लोकसाहित्य का कोई विरह प्रधान कथानक अथवा विरहातुर व्यक्ति विशेष का कोई लोक प्रचलित एवं आत्मानुभव गम्य कोई विरह प्रसंग नहीं रहा होगा।

हिन्दी के शिष्ट साहिप्य के क्षेत्र में भी यशोधरा, गुरुकुल, प्रिय प्रवास आदि रचनाओं का उद्गम स्रोत भी लोकसाहित्य में खोजा जा सकता है।

अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि शिष्ट साहित्य का उद्गम स्त्रोत लोक साहित्य ही होता है।

उक्त विवेचन से स्वतः सिद्ध है कि लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का परस्पर उपजीव्योपजीविभाव सम्बन्ध है।

"हिमाचल प्रदेश की प्राचीन गौरव गाथा"

डॉ० ब्रह्मदत्तशर्मा

हिमालय के उत्तर-पश्चिमी आंचल में अवस्थित नैसर्गिक सुषमा से सम्पन्न हिमाचल प्रदेश जो दक्षिण में उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा के उपजाऊ मैदानों से, उत्तर और उत्तर-पश्चिम में काश्मीर की मनोरम घाटियों से, दक्षिण-पश्चिम में पंजाब तथा उत्तर-पूर्व में तिब्बत से घिरा हुआ है न केवल सौन्दर्य का अपितु समन्वयात्मक भारतीय सं कृति का प्रतीक है। इस प्रदेश का अपना ही विशिष्ट एवं गौरवमय पुरातन इतिहास है। एक राजनीतिक सत्ता के अधीन न होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से यह क्षेत्र सदा एक रहा है। कहा जाता है कि जम्मू की भद्रवाह जागीर से लेकर टिहरी गढ़वाल तक यह पर्वतीय आंचल प्रागैतिहासिक काल से ही एक सशक्त सांस्कृतिक इकाई रहा है। वैदिक काल में हिमाचल स्थित राज्यों को 'वैराज्य' कहा गया है जो संभवतः राजा रहित जन पथ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० जायसवाल के मतानुसार ऐतरेय ब्राह्मण के ये हिमवन्त जनपद गण राज्य ही थे। सम्भव है कि इस जनपद के गण मुख्य उत्तर वैदिक काल के 'विराट्' हों। जनश्रुति के अनुसार विराट् नरेश की शीत कालीन राजधानी 'सोलासिंगी' और ग्रीष्मकाल 'हाटकोटी' (महासू) थी।

पाणिनी काल

पाणिनी काल (300 ई. पू.) में हिमाचल दो भागों में विभक्त था। इनमें से एक 'त्रिगर्त गण संघ' और दूसरा 'कुणिन्द गण संघ' के रूप में प्रसिद्ध था। त्रिगर्त रावी, व्यास और सतलुज की घाटियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' के दामन्यादि गण में त्रिगर्त संघ के अन्तर्गत छह गणों (राज्यों) का उल्लेख आया हैं:—

त्रिगर्तषष्टच्छः ये छह राज्य थे–कोण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रौष्टकी, जालमनि, ब्रह्मगुप्त तथा जानकि। पाणिनी ने लिखा है कि बाल्हीक देश (पंजाब के पर्वतीय भाग के जनपद) आयुध्द जीवी संघों के रूप में ख्याति प्राप्त थे। कौटिल्य ने भी जिन दो प्रकार के जनपदों का वर्णन किया है वे आयुध्द प्रयाह तथा श्रेणी प्रयाह थे। पाणिनी ने 'त्रिगर्त–षष्ट' को बाह्लीक देश का पर्वतीय आयुधजीवी संघ बताया है। कासिलो में जिन छह राज्यों को त्रिगर्त संघ आधीन बताया गया है, उनमें ब्रह्मगुप्त को 'ब्रह्मौर' (भरमौर) अथवा चम्बा राज्य स्वीकार किया गया है। महाभारत में जानकियों को राजा सुशर्मा के मित्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। ऊपरी महासू में रोहड़ू तहसील में हाटकोटी तथा बिलासपुर के क्षेत्र विराट क्षेत्र कहलाते हैं। संभवतः विराट् त्रिगर्त के अन्तगत रहे हों।

त्रिगर्त संघ अत्यन्त शक्तिशाली था और सिकन्दर की सेनाओं ने उसकी शक्ति का लोहा मानकर व्यासनदी पार करने से इन्कार कर दिया था। कांगड़ा या नगर कोट का किला अभेद्य माना जाता था। मोहम्मद तुगलक के राजाश्रित कवि छाछ ने लिखा है कि किले ने अपनी यशगाथा, मान–सम्मान को अक्षुण्ण रखा है। यह इतना सुदृढ़ है कि सिकन्दर और भी इसे विजित नहीं कर सके।

पाणिनीकाल का कुणिद गणराज्य वर्तमान महासू (शिमला) और नालागढ़ (सोलन) के राज्यों का संघ शासित क्षेत्र था। टालमीने इसे एक विस्तृत पर्वतीय क्षेत्र बताया है। उसके अनुसार कुलिन्द या कुनिन्दा में वे ऊंची श्रेणियां शामिल थीं जिनसे गंगा, यमुना, सतलुज व्यास आदि नदियां निकलती थीं। महाभारत में उल्लेख आया है कि कुलिन्द लोग शलदा नदी के निकट रहते थे। अलतेकर के मत से कुनिदा ने कालान्तर में यौधाओं के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए। डॉ. वी. एस अग्रवाल ने कालकुटों को कुनिन्दों की शाखा माना है। वर्तमान महासू परिक्षेत्र ही कुलिन्द प्रदेश प्रतीत होता है। कुनिदों के जो सिक्के मिले हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि यमुना और सतलुज के तथा ऊपरी सतलुज और व्यास के बीच शिवालिक का पर्वतीय भाग ही कुनिन्द क्षेत्र था। सिक्कों में वर्णित अमोघभूति

कुनिंदों का शक्तिशाली नायक था। ये सिक्के ब्राह्मी तथा खरोष्टी दोनों लिपियों में मिले हैं। इनमें कुछ कुशाण कालीन ताम्र सिक्कों के समान हैं और उन पर शिव अथवा छतरेश्वरी महात्मन् के चित्रांकित हैं। खरोष्टी लिपि और यूनानी प्रभाव को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुनिन्दों का प्रभाव उन क्षेत्रों तक विस्तृत था जो कभी यूनानी सत्ता के अन्तर्गत रहे। छत्रेश्वर सम्बन्धी सिक्के ईसा की दूसरी शताब्दी के हैं जब कुषाणों का पतन हो रहा था। प्राप्त विवरणों से प्रतीत होता है कि यह पर्वतीय क्षेत्र महाभारत काल से राजपूतकाल तक कुनिन्दों के अधीन रहा और बाद में कुलिन्द अन्य क्षत्रियों में विलीन हो गये।

प्राचीन विवरणों में जो ऐतिहासिक वृत्तान्त मिलता है उसके अनुसार कुलिन्द जनपद के अधिनायक द्विज कहलाते थे। इन्हीं के अनुसार त्रिगर्त का एक राजा शर्मा दूसरा वर्मा तथा मत्स्य का राजा विराट् बताया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मत्स्य देश में वंश परम्परा के अभाव में राजा को विराट् सम्बोधित किया गया। महाभारत में उल्लेख आया है :—

विद्याधर समाकीर्णान् युतान वानर किन्नरैः।
तथा किम्पुरुषैश्चैव गंधर्वेश्व समन्ततः ॥
सेविता ऋषिभिर्दिव्यै यक्ष किम्पुरुषस्तया ।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्ता वैण्षणेन च ॥

किन्तु वर्णित किम्पुरुष देश के बारे में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं हो सके हैं। महाभारत काल में हिमाचल प्रदेश के जो जनपद लोक-तन्त्रीय पद्धति से शासित थे उनमें विश्वगरव, मोदापुर, सेनाबिन्दु पंचगण की भौगोलिक स्थिति अभी भी अन्धकाराच्छादित है। लोहित का कोई विवरण नहीं मिलता। उपरोक्त छोटे-छोटे जनपद किश्त-बाड़ चम्बा, पांगी और लाहौल में थे। वर्तमान कूल्लू का वर्णन भी अवश्य मिलता है।

मौर्यकालीन हिमाचल

पूर्वमध्यकाल में मौर्य साम्राज्य के पतन होने पर सारा देश छोटे-

छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। इसका लाभ शकों और कुशाणों ने उठाया और उन्होंने हिमालय तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में अपने राज्यों की नींव डाली। अन्ततः पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी हिमालय के जनपदों संगठित होकर ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य तक कुशाण राज्य का अन्त कर दिया। परिणाम स्वरूप पर्वतीय क्षेत्र के जनपद स्वतन्त्र हो गये। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त ने गुप्त साम्राज्य की स्थापना की और हिमालय के जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। समुद्रगुप्त ने विजित राज्यों और जनपदों का 340 ई० के लगभग एकीकरण किया। इसका उल्लेख इलाहाबाद स्थित अशोक के शिला-स्तम्भ में समुद्रगुप्त के अभिलेख से मिलता है। उसने हिमालय के जिन जनपदों को पराजित किया था उनमें उत्तर-पश्चिम में भद्र, त्रिगर्त, औदुम्बर, कुल्लूत और मध्य हिमालय में कार्तिकपुर थे। इस शिला-स्तम्भ में कुलिन्द जनपद का उल्लेख नहीं है। संभवतः इसे चन्द्रगुप्त प्रथम ने पहले ही अपने आधिपत्य में ले लिया हो। शिला-स्तम्भ से विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने हिमालय के राजाओं को पराजित कर उन्हें राज्य वापस कर पट्टे प्रदान किए थे। इन राजाओं को समय-समय पर राजदरबार में जाना पड़ता था। कुमार गुप्त प्रथम (415-455) के राज्य काल के अन्तिम वर्ष में हूणों के आक्रमण हुए। कुमार गुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने अपने शौर्य से उन्हें पराजित किया। स्कन्द गुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य निर्बल होने लगा और अधीनस्थ राज्य स्वतन्त्र होने लगे। हूणों ने इसका लाभ उठाकर 521 ई० के लगभग पंजाब तथा पश्चिमी हिमालय पर आक्रमण किया। बाद में पंजाब से लेकर ग्वालियर तक के प्रदेश को भी उन्होंने जीत लिया। इसमें सन्देह नहीं कि हूणों ने हिमालय के भू-भाग पर भी राज्य किया था।

हूणों से साथ-साथ यहां पर गुज्जर भी आये थे और वे मेवात से लेकर यमुनाघाटी के दोनों किनारों तक फैल गये थे। तदुपरान्त हिमालय की तराइयों से ऊपरी सिन्धु तक बस गये। हूणों और गुज्जरों के आक्रमण से गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ और हिमाचल प्रदेश छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। सन् 606 के लगभग राजा हर्षवर्धन का

आविर्भाव हुआ जिसने हिमालय के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर एक बृहद् राज्य स्थापित कर लिया था। उनके राज्य काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था। उसने हिमालय से लेकर ब्रह्मपुर (गढ़वाल-कुमाऊं) तथा नेपाल के मध्य भू-भाग के राज्यों का वर्णन किया है। वह दो वर्ष काश्मीर में रहा, तदनन्तर स्यालकोट और फिर जालन्धर पहुंचा। जालन्धर त्रिगर्त का दूसरा नाम तथा उसकी राजधानी थी। ह्वेनसांग के अनुसार जालन्धर राज्य की पूर्व से पश्चिम को 167 मील लम्बाई और उत्तर से दक्षिण को 133 मील चौड़ाई थी। यदि इस भौगोलिक स्थिति को मान लिया जाए तो उत्तर की ओर चम्बा, पूर्व की ओर से मण्डी तथा सुकेत और दक्षिण-पूर्व की ओर से शतद्रु राज्य शामिल रहे होंगे। चीनी-यात्री ने चम्बा राजवंश के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया। चम्बा की राजधानी ब्रह्मपुर (भरमौर) थी।

ह्वेनसांग के अनुसार यह राज्य 660 मील लम्बा चौड़ा था। ब्रह्मपुर (भरमौर) का विवरण छठी शताब्दी में बराह मिहिर ने 'वृहत् संहिता' में भी किया है। तालेश्वर (अलमोड़ा) जिला के निकट जो दो ताम्रपत्र मिले हैं। वे ब्रह्मपुर राज्य से सम्बन्धित हैं। ये ताम्रपत्र ब्रह्मपुर से जारी किए गये थे और इनमें द्युतिवर्मा तथा विष्णुवर्मन नामक राजाओं द्वारा विर्नेश्वर (विष्णु) को दिए गए दान का उल्लेख है। ह्वेनसांग के विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि यहां कि भूमि उर्वरा थी तथा तांबा और मणियां प्रभूत मात्रा में मिलते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्यास घाटी में जालन्धर-त्रिगर्त, सतलुज घाटी में शतद्रु और गंगाघाटी में ब्रह्मपुत्र के राजा राज्य करते थे जो सम्राट् हर्षवर्द्धन के अधीन रहते हुए भी स्वतन्त्र जैसे ही थें। कुल्लूत तथा स्त्रुघन भी उनके अधीन थे।

हर्षवर्द्धन के उपरान्त सम्राट् यशोवर्मन का इतिहास में उल्लेख मिलता है जिसने हिमालय खण्ड को अपने अधीन किया था। यशोवर्मन के राज कवि वक्रपति राजा ने 'जन्दवाह' ग्रन्थ में लिखा है कि यशोवर्मन ने उत्तरी तथा दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त की थी

और श्री खण्ड स्थाण्वीश्वर व कुरुक्षेत्र होकर अयोध्या गया था। तदुपरान्त उसने हिमालय खण्ड को विजित किया। इतिहासज्ञों का मत है कि गुप्त राजाओं ने औदाम्बर और कुलिन्द जनपदों को अपने राज्य में मिला लिया था किन्तु त्रिगर्त, कुलूत, कार्तियपुर जनपदों को पट्टे प्रदान करने का अधिकार दिया था।



कुछ देवी देवता

रामलाल पाठक

हिमाचल प्रदेश की ऊंची-नीची घाटियां जहां प्राकृतिक सौन्दर्य से सौजन्य है, वहां प्राचीन काल से देवी-देवताओं का भी निवास-स्थान माना जाता है। धर्म शास्त्र हो या इतिहास, इस देव स्थान का विशेष वर्णन आता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन देवी-देवताओं की पूजा बड़ी श्रद्धा-भक्ति से होती आ रही है। इस देव धरा के भोले-भाले लोग जब घर में किसी प्रकार का शुभ कार्य करते हैं अथवा त्यौहारों पर पकवान करते हैं तो सब से पहले ग्राम-देवता और स्थान देवता की पूजा कर लेते हैं। गांव के पास किसी बड़े-पेड़ पर अथवा पीपल के पेड़ के मूल स्थान में इन-देवी-देवताओं के स्थापन या मन्दिर बने होते हैं। भोले भाले लोग इन देवी-देवताओं पर बड़ा भरोसा और विश्वास करते हैं। जब ये लोग गांव से बाहर जाते हैं या बाहर से गांव में प्रवेश करने से पहले सीमा पर से प्रणाम कर अपनी श्रद्धा का परिचय देते हैं। इन देवी-देवताओं में देयोवीर, सिद्ध, नारसिंह वीर, पहाड़ी वीर, लखदाता पीर, कुलजा गुगा जहार पीर, ख्वाजा आदि प्रमुख हैं।

इस देवी-भूमि में जितना पूजनीय स्थान देवी-देवताओं का है उतना ही पूजनीय स्थान ब्राह्मण का है। फसल पकने के बाद जब बांस के बड़े बर्तनों में डालने से पहले देवताओं के लिए **"नबीयां नीमा री पाहटी"** और ब्राह्मण **"नसरावां"** (अन्न का दान) उठाकर दूसरे अनाज से किनारे रख देते हैं जो कि सवा सेर सवा दो सेर, अथवा सवा पांच सेर का होता है। इस के आटे की मोटी रोटियां जिसे "रोट" कहते हैं अगर चावल हो तो खिचड़ी का निवेद्य लगाते हैं। थाली में रोट या खिचड़ी, धूप, दीप, जल का लोटा आदि लेकर

देव-स्थान पर जाकर, जहां एक बड़ा लम्बा चौड़ा पत्थर रखा गया होता है जिसके ऊपर पत्थर की मूर्ति (पौंड़ियां) होती है वहां रोट के छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उस पत्थर पर रखते हैं और फिर पानी वगैरा उसके चारों ओर अर्घ्य देते हैं। शेष बच्चे पानी सूर्य को चढ़ाते हैं। रोट का एक टुकड़ा गाय के लिए एक कुत्ते तथा एक कौवे के लिए किनारे रखते हैं और देवताओं से "उरनदारी" (गल्तियों) की क्षमा मांगते हैं। रोट वहां चढ़ाने के बाद जो शेष बच जाता है उसे लोगों में तथा सारे परिवार में बांट देते हैं। सब लोग रोट को सिर से लगाकर पूजते हैं तब खाते हैं नहीं तो देवताओं का खोट निकलता है।

घर से बाहर गए लोग जब घर में सब इकट्ठे होते तो सत्यनारायण की कथा की जाती है। जिसमें ब्राह्मण और कन्याओं के साथ बन्धव-बान्धव को भोजन करवाया जाता है। खाना-खाने के बाद ब्राह्मण और कन्याओं को दक्षिणा दी जाती है। विभिन्न-विभिन्न देवी देवताओं को मनाने के अलग-अलग ढंग हैं।

१. **देयोबीर:**-देयोबीर का रोट सिर्फ मर्द ही पकाता है और मर्द ही पूजन करके बांटते हैं। इस रोट को खाते भी मर्द ही हैं। इस देवता का निवास स्थान प्रायः पीपल के पेड़ में होता है। जहां जनेऊ डाल कर सिन्दूर का तिलक लगाया जाता है और गुग्गल धूप जला कर मनाया जाता है। इसकी पूजा मंगलवार को होती है और रोट भी मंगलवार को चढ़ाया जाता है। महीने के पहले तथा अन्तिम मंगलवार को पूजा करना अच्छा समझते हैं। देयोवीर के किए सूजी का प्रसाद भी बनाते हैं।

२. **सिद्ध :**—सिद्ध को पूजा में सुगन्धित धूप जलाया जाता है। इसकी पूजा मंगलवार के दिन भी होती है और इतवार को भी होती है, परन्तु अधिकतर लोग तो इतवार को ही इसकी पूजा करते हैं। रोट खाने के पश्चात् पानी पीकर दूसरा खाना खाना उचित नहीं समझते हैं। जब कभी **"सुखना"** (मनोकामना) पूर्ण हो जाती हैं अथवा खोट होने पर इसकी घर से देव स्थान तक जात्रा का आयोजन होता है। जात्रा दो प्रकार की होती है मिट्ठी

जात्रा या बकरे की जात्रा, मीट्ठी जात्रा में साधारण खाना पकाया जाता है और वहीं देव स्थान पर खाया जाता है। दूसरी जात्रा बकरे की होती है जिसमें वहां बकरा काटा जाता है। उसका वही मांस बनाकर खाया जाता है। सब घर के लोग जो जात्रा ले जाते हैं हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं और उस पर फूल एवं चावल फैंकते हैं। अगर बकरा फूर्ती से पांच सात बार हिले तो कहते हैं कि देवता को बकरा मन्जूर है। अगर हिलता न हो तो देवता की नामन्जूरी होती है। इस हिलने को **"बीनण"** कहते हैं।

नरसिंह वीर :–एक प्रबल देवता है। इसकी पूजा लोग मंगलवार को करते हैं। इसको रोट भी चढ़ाया जाता है और यात्राएं भी चढ़ाते हैं कुछ लोग तो इसको चान्दी का छत्र और लकड़ी की चरण पादुकाएं चढ़ाते हैं। इसको गुग्गल धूप और सिन्दूर से पूजते है। ये नर और सिंह का रूप है। कहते हैं कि राजा हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रह्लाद, जो कि भगवान का भक्त था परन्तु राजा उसे तंग किया करता था, कठोर यातनाएं देता था। भक्त प्रह्लाद का ध्यान फिर भी भंग नहीं हुआ। भगवान भी राजा हिरण्यकश्यप को समाप्त करना चाहता था परन्तु उसके लिए बरदान था कि न दिन को मरेगा न रात को, न बाहर मरेगा और न अन्दर, न जानवर द्वारा मौत होगी और न ही किसी आदमी द्वारा और न किसी शस्त्र वाले से मौत होगी। इस लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण करके उसको बीच द्वार में सूर्य छिपने के बाद और शाम होने से पहले अपने नाखून से समाप्त कर दिया।

पहाड़ी वीर:-ये गांव का एक विशेष देवता होता है। कुछ लोग इसको अपने बस में करके दूसरे पर जादू टोना चलाया करते हैं जिससे मनुष्य के लिए मानसिक शारीरिक अथवा अन्य किसी प्रकार भी हानि होती है। गांव में या गांव के आस पास एक–दो ऐसे आदमी भी होते हैं जो इसको टाल भी देते हैं जो खुद जादू–टोना जानते हैं परन्तु वे अच्छाई के लिए ही उस विद्या को प्रयोग में लाते हैं। इन को स्थानीय बोली में **'चेला'** कहते हैं। इस वीर को हटाने के लिए वे कई किस्म का टना–टाना करते हैं। डमरू और थाली बजाकर अपने आप खेलता

है या किसो को खेलने के लिए मत्थे पर सिन्दूर का तिलक लगाते हैं जिससे वह आदमी खेल कर बता देता है कि जादू किस व्यक्ति द्वारा किया गया है। फिर चेला लोहे का चिमटा लेकर पीटता है और पूछता है कि ये पहाड़ी बीर तू दूसरी जगह चला जा। जब वह इन्कार करता है तो चेला उसको चिमटे की मारता है कि जाता है कि नहीं जब वह फिर इन्कार कर देता तो चेला पूछता है कि तुझे चाहिए क्या? तो वह कह देता है कि मुझे बकरू चाहिए या पूजा चाहिए। यह कार्य इतवार या मंगलवार को होता है और चेला भी उस वीर से वचन ले लेता है कि अगर तू यहां से हट जाएगा तो सात-दिन से या पन्द्रह दिन से बकरू या पूजा दी जाएगी।

लखदाता पीरः—इस देवता को भी गांव में बड़ी मान्यता होती है। कुछ लोग लखदाता को लक्षमण का रूप मानते हैं। और कुछ लोगों का कहना है कि लखदाता हिन्दू है परन्तु इसको मुस्लमानों ने अपनी किसी मस्जिद में बन्दी बनाकर रखा है। लखदाता कहता है कि अगर मुझे गंगा जल का छींटा लग जाए तो मैं यहां से मुक्त हो सकता हूँ परन्तु यह कार्य असम्भव है। इस लिए इसको मुस्लमानों द्वारा ही हिन्दू मनाते हैं। जब कोई मनौती करता या मनोकामना पूर्ण होती है तो लखदाता पीर को कुश्तियों द्वारा प्रसन्न किया जाता है। गांव के किसी बड़े खेत या किसी समतल स्थान पर आखाड़ा बनाया जाता है। मुस्लमान अपने बड़े-बड़े ढोल बजा कर कुश्तियों का श्री गणेश करते हैं और जब तक कुश्तियां खत्म न हों ये लोग ढोल बजाते आखाड़े के चारों ओर घूमते रहते हैं। तब लखदाता कुश्तियों के रूप में आखाड़े में प्रवेश करता है। लोग इस देवता को अपनी भैंस का **'जाख'** भी मानते हैं यानि जब भैंस के बच्चा होता है और उसके पास नया दूध मिलता है उस दूध से पहले लखदाता की पूजा की जाती है। उस भैंस का जो पहली बारी का घी होता है उससे चूरमा बनाया जाता है। सवा पांच सेर आटे की रोटियां पकाई जाती है और उक्त मात्रा में ही शक्कर डाल कर घी डाला जाता है। चूरमे के लड्डू बनाए जाते हैं और आटे का पांच मुख वाला दीया बनाकर सरसों के तेल से जलाया जाता है। घर के सारे आदमी प्रार्थना करते हैं कि

लखदाता पीर सारे माल पशु अथवा सारे परिवार की रक्षा करें। तद् पश्चात् सारे गांव में आवाज़ देकर चूरमा बांटा जाता है। चूरमा हमेशा वीरवार को ही बांटा जाता है।

कुलजा :-इसको कुल (बंश) की देवी मानते हैं। जब घर में कोई शुभ कार्य होता है या शादी-ब्याह का आयोजन होता है तो कुलजा की पूजा की जाती है। घर में जब शादी से पहले तेल-तुलाई होती है या शान्ति पाठ शुरु होता है तो कुलजा की घर में स्थापना की जाती है और जिस दिन तक शादी सम्पन्न न हो कोई भी परिवार का सदस्य चारपाई पर नहीं सोता और जब शादी हो जाती है तो कुलजा को वधाई दी जाती है जो कि परम्परागत बकरी चढ़ाकर या खिचड़ी पका कर कुलजा की पूजा की जाती है। घर में नई-नवेली बहू को भी बधाई दी जाती है। घर में जेष्ठ पुत्र पैदा होने की सब से बड़ी बधाई होती है। कुलजा को परिवार का रक्षक माना जाता है।

गुगा जाहर पीर :-रक्षा बन्धन के दिन से गुगा जाहर पीर की कार फिर जाती है। उस दिन से शंकर भगवान के जितने भी जहरीले सांप आदि कीड़े मकोड़े होते हैं धरती में लुप्त हो जाते हैं भक्त लोग नंगे-नंगे पैरों से गुगा जाहर पीर की छड़ी उठाकर आस पास के गांव में इस देवता की महिमा का गुणगान करते हैं। डमरू, हारमोनियम, कौली और खड़ताल इसका प्रमुख साज है। उसका मन्त्र भक्त लोग इस प्रकार भी उच्चारण करते हैं। जिसकी दो लाईनें इस प्रकार हैं—

जय गुगा जाहर पीर
माई वाच्छल का बेटा
नीले घोड़े दे सवार

ऐसी अनेक गाथा गा-गा कर लोगों को इसका अर्थ समझाते हैं और गुगा नौमी के दिन आसपास के गांव की सारी मण्डलियां इक्ट्ठी हो जाती हैं जो कि एक एक करके गाकर लोगों को सुनाते हैं और जहां से एक मण्डली बोल छोड़ती हैं वहां दूसरी मण्डली बोल पकड़ लेती है। प्रथम तिथि से लेकर आठवीं तिथि तक ये मण्डलियां रात को किसी आदमी के घर जाकर जो उनको बुलाते हैं, गुगा के गीत गाते

हैं। दसवीं को गुग्गा का 'रोट' चढ़ाते हैं और अगले साल तक इसकी पूजा स्थगित हो जाती है।

ख्वाजा पीर :–इसको पानी का देवता माना जाता है। साल में एक बार इसको बरसात के दिनों में रोट या दलियां चढ़ाया जाता है। इसकी स्थापना वहां होती है जहां जल प्रवाह से जल को कूहलों द्वारा अपने खेतों को या घराट आदि पानी से चलने वाली मशीनों को पानी लिया जाता है। कुछ लोग तो इसको सांप के रूप में भी मानते हैं और अगर सफेद रंग का एक विशेष प्रकार का सांप दिखाई दे जाए तो कहते हैं कि ख्वाजा महाराज के दर्शन हो गए। अगर बहुत दिन तक वर्षा न हो या अधिक वर्षा होने से बाढ़ आ जाए तो लोग कहते हैं कि ख्वाजा रुष्ट हैं।

इसके अतिरिक्त गांव में असंख्य देवी–देवता होते हैं जिनको लोग बड़ी श्रद्धा से पूजते हैं। हर स्थान पर पूजने का अपना अपना ढंग हैं गाय, सूर्य, चन्द्रमा, नौ ग्रह, जल, वायु जैसे देवता तो समस्त भारत में पूजे जाते हैं। कई स्थानों पर कुत्ता भी पूजा जाता है क्योंकि कुत्ता भगवान् का भक्त होता है इस लिए लोग खाना खाने से पहले गाय कुत्ता और कौवे के लिए रोटी के ग्रास रख लेते हैं। कौवा भले ही कठोर बचन बोलता है लेकिन अतिथि आने की सूचना भी देता। सारी बातें श्रद्धा की है माने तो पत्थर भी भगवान है और न माने तो भगवान के भी साक्षात दर्शन नहीं होते।



पहाड़ी त्यौहारों का सरताज–बिशु

एम. आर. ठाकुर

उत्तर भारत के समस्त पहाड़ी क्षेत्र में बिशु त्यौहार का विशेष महत्व है। पूर्व में आसाम से लेकर पश्चिम में काश्मीर तक यह त्यौहार किसी न किसी रूप में मनाया जाता है और हर क्षेत्र में इसका आयोजन मनोरंजन से भरपूर है। कुछ विद्वानों का मत है कि पंजाब आदि मैदानी क्षेत्र में जो वैशाखी नाम से मेले आयोजित होते हैं वही पहाड़ों में बिशु के मेलों के नाम से जाने जाते हैं परन्तु वस्तु–स्थिति यह नहीं है। पहाड़ों में ये मेले वैशाखी के नाम से नहीं जाने जाते हालांकि पहाड़ों में भी वैशाख मास को बशाख या वसाख नाम से ही जाना जाता है। इसके अतिरिक्त जहां मैदानी क्षेत्रों में वैशाखी के मेले केवल प्रथम वैशाख को मनाए जाते हैं और वैशाख शब्द का सम्बन्ध वैशाख मास से ही है वहां पहाड़ों में न विशु शब्द का सम्बन्ध वैशाख से है तथा न यह त्यौहार केवल प्रथम वैशाख तक सीमित है। पहाड़ों में बिशु मेले प्रथम चैत्र से आरम्भ होते हैं और स्थान–स्थान पर वर्ष के विभिन्न दिनों में मनाए जाते हैं। स्थानीय बोली–भेद के कारण यह विशु, बिशुं, बिरशु, बिसु, विहु, बसोहा तथा बसोआ आदि नामों से प्रसिद्ध है और विभिन्न स्थानों पर क्षेत्रीय महत्व के कारण बिशु शब्द की व्युत्पति और बिशु त्यौहार का सम्बन्ध अनेक तरह से जोड़ा गया है।

चम्बा आदि गद्दी क्षेत्रों में लोग इसे बसो, बसोआ या बसोहा कहते हैं और प्रथम वैशाख को मनाते हैं। यह इस क्षेत्र के त्यौहारों का राजा है। जैसे हिमाचल के महासु और मण्डी क्षेत्र में शिवरात्रि की तैयारी साल भर से होती है वैसे ही गद्दी लोग बसोहा की तैयारी वर्ष भर से

करते रहते हैं। खरीफ और रवी की नई फसल के दाने सबसे पहले बसोहा के नाम पर आरक्षित रखे जाते हैं । नया वस्त्राभूषण बसोहा के दिन के लिए आरक्षित रखा जाता है। भेड़-बकरियों के साथ घर से बाहर निकले गद्दी लोग बसोहा के कई दिनों पूर्व से ही घर जाने को तैयारी करते हैं। बसोहा के दिन परिवार का कोई सदस्य घर से बाहर नहीं रहता। दूर-दूर काम और नौकरी आदि पर गए गद्दी बसोहा में अवश्य घर पहुंच जाते हैं। घर, शरीर, भांडे, बर्तन, वस्त्र, आभूषण की पूरी सफाई की जाती है। गद्दी लोग बसोहा का अर्थ ही घर को स्वच्छ और नए तरीके से बसाने से लेते हैं। उस दिन के लिए विशेष प्रकार का भोजन तैयार किया जाता है। जिसे पिंदड़ी कहते हैं। ये मूलतः कोदे के आटे की पिन्नियां होती हैं। कोदे के आटे को खौलते हुए पानी में घोल कर ठंडा किया जाता है। तब कुछ गेहूँ का आटा मिलाकर गोल पिन्नियां बनाई जाती हैं । इन्हें कुछ समय पड़ा रहने देते हैं और जब उनमें खमीर आ जाए तो इन्हें घी-शक्कर, शहद के साथ खाते हैं। विश्वास है कि इन्हें खाने से पित्त से बचाव होता है दिन के समय देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी, जीजा-साली, भाभी-बहनोई ताक में बैठकर चोरी-चुपके से पिंदड़ियां एक-दूसरे के मुंह में मलते हैं। उस दिन विवाहिता धी-धियान को अवश्य मायके बुलाया जाता है। लड़की ससुराल में बैठकर निमन्त्रण की प्रतीक्षा करती है परन्तु जिनके घर में भाई छोटा या बाप नौकरी पर हो तो लड़की (धी) को स्वयं आने और जाने के लिए कह जाता है :—

अमां मेरिए कुण तुहार आया हो,
अमां मेरिए बापू जो सादा भेजे हो ।
धीए मेरीए बसोहा तुहार आया हो,
भाई तेरा निक्का, बापू चम्बे नौकरी,
अप्पू ईणा अप्पू जाणा हो ।

इस प्रकार गद्दी क्षेत्र का बसोहा मैदानों की भांति वैशाखी की तरह फसली त्यौहार है। जिन क्षेत्रों में बिशु को बिशुं कहा जाता है वहां इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द वर्ष से जोड़ा जाता है। यह

वर्ष के अधिपति ग्रह को समर्पित है । प्रथम वैशाख से नए वर्ष का आरम्भ माना जाता है। नए वर्ष के प्रथम दिवस पर मनाए जाने वाले त्यौहार को बिशु कहना बड़ा स्वाभाविक है । नए वर्ष का स्वागत फूलों से किया जाता है । उस दिन लोग ग्रामीण देवता तथा अपने घरों को नए फूलों से सजाते हैं। कुल्लू क्षेत्र के ऊपरी भागों में जहां अधिक सर्दी के कारण अभी तक प्राकृतिक फूल नहीं खिलते वहां गोबर और मिट्टी को मिलाकर घड़ों को आधा भर दिया जाता है । उनमें जौ के बीज बो दिए जाते हैं और घड़े को अंधेरे में जहां धूप या प्रकाश न पड़े रखा जाता है । कुछ दिनों के बाद जब जो के पौधे निकल आते हैं तो उनका रंग पीला होता है । उन्हें जड़ों समेत उखाड़ कर जड़ों को मसल कर गुच्छा-सा बना दिया जाता है जो सुन्दर पीले फूलों का रूप देते हैं । इन्हें "जौरा फूल" कहते हैं । लोग नए वर्ष का शुभ आरम्भ इन फूलों से करते हैं । लोग ऐसे फूलों को अपनी टोपियों, घर के दरवाजों और देवताओं के रथों में सजाते हैं । लोगों का विश्वास है कि पहाड़ी क्षेत्र के देवता पोष मास में स्वर्ग लोक में जाते हैं और चैत्र तक वहीं रहते हैं । वहां उनको वर्षफल वितरित किए जाते हैं । देवता का माली या गूर बिरशू के दिन अपनी प्रजा को यह वर्षफल सुनाता है-वह क्या लाया है, अच्छी या बुरी फलस, बाढ़, वर्षा, सूखा या अनावृष्टि, महा-मारी या अग्निवाण आदि ।

हिमाचल प्रदेश के महासू क्षेत्र में बरास के लाल फूलों की बगड़ बांस की रस्सियों में माला तैयार की जाती है । बगड़ घास को स्थानीय विश्वास के अनुसार सीता के बाल मानकर पवित्र समझा जाता है । (विवरण के लिए देखें, लेखक की पुस्तक "हिमाचल के लोक-नाट्य और लोकानुरंजन" पृष्ठ 65) इसकी इतनी लम्बी रस्सी बनाई जाती है कि मकान के चारों तरफ पूरा एक चक्कर लपेट में आ जाए । इसे सत-रेवड़ी कहते हैं । बिशु के दिन जब सभी पशु घर के अन्दर आ जाएं तो बरास के फूलों की इस सतरेवड़ी को मकान के चारों ओर लपेट देते हैं । ऐसी छोटी मालाएं दरवाजों पर भी लटका दी जाती हैं । विश्वास किया जाता है कि इससे वर्ष भर किसी तरह की रोग-व्याधि घर में प्रवेश नहीं करती । घर के कौने-कौने में गौ-मूत्र छिड़काया जाता है ।

फर्श पर फूल बिखेरे जाते हैं। पशुओं को खिड़क वृक्ष के कच्चे पत्ते जो कड़वे होते हैं, अवश्य खिलाए जाते हैं। इससे वर्ष भर पशुओं को किसी घास का ज़हर नहीं लगता। उसी दिन से ठोड़ा के युद्ध-लोक-नाट्य आरम्भ होते हैं। इधर बड़े-बड़े गांव या तो शाठी राजपूतों के होते हैं या पाशी राजपूतों के। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार कौरव साठ भाई थे। एक सौ नहीं। इसलिए उनकी संतान को शाठी कहते हैं। पांडव पांच ही थे। उनके वंशज पाशी कहलाते हैं। कभी शाठी गांव के लोग पाशी को और कभी पाशी राजपूत शाठी को युद्ध के लिए निमन्त्रण देते हैं। आमन्त्रित गांव के नौजवान, बूढे, बच्चे, हाथों में लम्बे-लम्बे तीर-कमान लेकर बाजे-गाजे के साथ नाचते हुए दूसरे गांव को प्रस्थान करते हैं। दूसरे गांव के लोग वैसे ही वाद्य-यन्त्रों के संगीत में तीर-कमान हाथों में लिए नृत्य करते हुए गांव के खुले मैदान "जुब्बड़" में उनका स्वागत करते हैं। दोनों दलों का बड़ी गर्म-जोशी के साथ मिलन होता है। तब दर्शक जुब्बड़ के चारों और बैठ जाते हैं। शाठी और पाशी की ओर से एक-एक नौजवान हाथ में तीर-कमान लिए नाचते और एक-दूसरे को ललकारते हुए मैदान में प्रवेश करते हैं। तब बीच में बारी-बारी से तीर द्वारा एक दूसरे की टांगों में निशान बांधते हैं। जुब्बड़ मैदान में एक साथ कई जोड़े द्वन्द्व-युद्ध के लिए निकलते हैं, परन्तु प्रत्येक अपने प्रतिद्वन्दी को ही तीर मारता है, किसी तीसरे को नहीं। ललकार भरते हुए योद्धा अपने-आप को खशिया राजपूत कहते हैं, जो किसी टिक्का, ठाकुर, राजा के अधीन ही रहा है, स्वतन्त्र रहा है। शाठी का खेल पाशी की मौत है। वह पाशी के खून का प्यासा है :—

शिगड़े आओ माणछो चौऊ गभरु चौऊ पटराले ठोड़ो देखदे
शाठी रा खेलटू पाशी री मोड़ी मेरीए
हां तो ओसो पाशे रे लाहू रा भूखा मेरीए

बिशु के दिन तीर-कमान का यह द्वन्द-युद्ध महाभारत की याद ताजा करता है और यह तब तक जारी रहेगा जब तक पांडव स्वर्गारोहण से वापिस नहीं आते क्योंकि स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार पांडव यह कह कर गए हैं कि वे किसी समय चैत्र महीने में इसी मार्ग

से हस्तिनापुर लौटेंगे। इसी लिए शाठी और पाशी लोग चैत्र महीने का नाम नहीं लेते, इसे तेरहवां महीना मानते हैं। इस महीने का नाम वे तब लेंगे जब पाण्डव अपने वायदे के अनुसार वापिस लौटेंगे। तब तक प्रतिवर्ष तुरी लोग गांव-गांव में जाकर पाण्डवायन गाथा सुनाकर बताते हैं कि चैत्र मास आ गया है।

इस प्रकार प्रति वर्ष प्रथम वैशाख से बिशु मेले श्रावण मास तक विभिन्न स्थानों पर मनाए जाते हैं। परन्तु असम प्रदेश में बिशु का सम्बन्ध "वर्ष" से नहीं है। असम में इस त्यौहार को बिहु कहते हैं। वहां बिशु या बिहु का सम्बन्ध संस्कृत शब्द "विषुव" से जोड़ा जाता है। विषुव वह समय है जब दिन-रात का मान बराबर होता है। बासन्तिक विषुव 21-22 मार्च को और शारदीय विषुव 22-23 सितम्बर को माना जाता है। असम में बिहु त्यौहार वर्ष में तीन बार मनाया जाता है बाहग बिहु वैशाख मास में, काती बिहु कार्तिक में और माघ बिहु माघ मास में। निश्चय ही बाहग बिहु वासन्तिक विषुव से, काती विहु शारदीय विषुव से और माघ बिहु शीत अयनान्त से सम्बन्धित है। इस प्रकार असम में बिहु त्यौहार फसली त्यौहार है और धान की खेती के तीन अवस्थाओं को प्रतिपादित करता है। बाहग बिहु में धान बीजने के लिए खेतों को तैयार किया जाता है, कातो बिहू में धान को रोपा जाता है और माघ बिहु को पक कर घरों में जमा किया जाता है। इन तीनों बिहु त्यौहारों में बाहग बिहु का सर्वाधिक महत्व है। यह चैत्र-वैशाख संक्रान्ति के दिन आरम्भ होता है और कई दिनों तक विभिन्न चरणों में मनाया जाता हैं। प्रथम चरण में इसे गोरु बिहु अर्थात् पशुओं का बिहु कहा जाता है। यह गाय बैल आदि पशुओं के लिए समर्पित हैं। उस दिन पशुओं को नदियों, तालाबों या चश्मों पर ले जाकर नहलाया जाता है। उनके सींगों और शरीर पर तेल लगाया जाता है। तब इन्हें वाद्य-यन्त्रों के संगीत के साथ बड़ी धूम-धाम से घर लाया जाता है। गोशालाओं में प्रवेश से पहले दरवाजे पर उनका विशेष रूप से स्वागत किया जाता है। उन्हें नमक डालकर चावल की रोटियां खिलाई जाती है और रात को

गोलक्ष्मी पूजा की जाती है। बाह्ग बिहु के दूसरे चरण को माण्हु बिहु अर्थात् मानव बिहु कहा जाता है। उस दिन प्रत्येक व्यक्ति–स्त्री, पुरुष, बच्चा, बूढ़ा स्नान करता है। नए वस्त्र–आभूषण पहनता है। अच्छा भोजन तैयार किया जाता है। एक–दूसरे के घर मेहमान–नवाज़ी की जाती है तथा दिन और रात भर नाच-गानों का आयोजन किया जाता है। बाह्ग बिहु की असली अवस्था गोसाईं बिहु कहलाती है। उस दिन देवताओं की पूजा की जाती है। अन्तिम चरण उर्वा बिहु का है। यह बिहु को बिदाई देने का दिन है। लोग गांव से दूर जंगल या सुनसान स्थान पर जाकर नाच–गाना प्रदर्शित करते हुए अनेक तरह की रस्में अदा करते है और अन्त में बिहु के पूर्ण पर्व में प्रयोग में लाई गई वस्तुऐं वहीं छोड़ कर वापिस गांव आते हैं।

काती बिहु में न तो इतनी चहल-पहल होती है और न ही अधिक रस्में निभाई जाती हैं। इस लिए इसे कंकाली बिहु भी कहा जाता है। उस दिन तुलसी की पूजा की जाती है और देवताओं से अच्छी फसल के लिए प्रार्थना की जाती है। महत्व की दृष्टि से माघ बिहु का दूसरा स्थान है। यह पौष के अन्तिम दिन और माघ के प्रथम दिन रात्रि को आरम्भ होता है। पहाड़ों के अन्य भागों की लोहड़ी की तरह उस रात गांव के सांझे स्थानों पर लकड़ी के बड़े–बड़े ढेर लगाये जाते हैं। लकड़ी के इस ढेर को मेजी कहते हैं। सारी रात उनके गिर्द लोग पूरी मस्ती में गाते, बजाते और नाचते रहते हैं। सबेरा होते–होते लोग नहा–धो कर मन्त्रोच्चारण के साथ मेजी में आग लगा देते हैं। मेजी के जल जाने पर लोग जली हुई लकड़ी लेकर अपने अपने खेतों में जाते हैं। ऐसा करना शुभ माना जाता है।

"विरशू" शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द "वृष–भ" से मानी जाती है और वस्तुतः बिरशु का सही सम्बन्ध "वृषभ" या "वृष" अर्थात् बैल से ही है। यह बात बिरशु त्यौहारों में निभाई जाने वाली अनेक प्रथाओं से पुष्ट हो जाती है। असम क्षेत्र में पूर्वोक्त गोरु बिहु इसका एक उदाहरण है। कुल्लू क्षेत्र में दो बिरशु त्यौहार मनाए जाते हैं–प्रथम चैत्र का जेठा बिरशु (ज्येष्ठ विशु) और प्रथम वैशाख

को कोन्हा (कनिष्ठ) बिरशु । परन्तु इन दोनों में अधिक महत्व और प्रथम स्थान कोन्हा बिरशु को ही दिया जाता है। इसी के आसपास सलाहर त्यौहार मनाया जाता है। उस दिन जौ की हरी और कच्ची बालियों से दाने निकाल कर चावल में पिरो कर इन्हें पकाया जाता है और पहले देवताओं को भेंट करके स्वयं खाया जाता है। पहाड़ों में शीतकाल में खेतों में काम नहीं होता और शरद ऋतु के बाद सलाहर तक खेतों में किसी तरह का कुदाल या हल नहीं चलाया जाता, न दरान्ती से घास या फसल काटी जाती है, हाथ से भले उसे उखाड़ लें। सलाहर या विरशु के दिन से ही बैलों द्वारा हल चलाया जाता है,उससे पूव नहीं। बिरशु के दिन एक बिशेष प्रथा "वृष" छोड़ने की है। इसे नसल के लिए विशेष अनुष्ठान के साथ छोड़ा जाता है। उदाहरणार्थ बिरशु के दिन सारी का नाग देवता एक बछड़ा ले कर बाजा-गाजा के साथ नाचता हुआ भेखली देवी के मन्दिर में पहुंचता है और बछड़ा भेखली की भुवनेश्वरी माता को भेंट करता है। माता उसी समय उस बछड़े को मंदिर से बाहर निकाल कर सदा के लिए स्वतन्त्र कराती है। वह हर जगह स्वतन्त्रता से फिरता, पलता और बड़ा होता है तथा सांड बन कर नसल-वृद्धि का काम करता है। ऐसी प्रथा अनेक स्थानों पर निभाई जाती है। इसे "वृष छोड़ना" कहते हैं।

ब्रिरशु का सम्बन्ध "वृषभ" से ही है इसकी पुष्टि हिमाचल प्रदेश के किन्नौर ज़िला के सांगला क्षेत्र की प्रथा से भी हो जाती है। इसका आंखों देखा वृतान्त इस प्रकार है – सांगला क्षेत्र के लोग महीना भर से पहले एक विशेष अन्न "फाफरा" इक्ट्ठा करते हैं और उसे पीसकर फागुन महीने के ठण्डे पानी में घोल कर बड़े-बड़े घड़ों में भर कर रख देते हैं। उसमें विशेष जड़ी बूटियां डाली जाती हैं। महीना भर में जड़ी'बूटियों के प्रभाव से वह एक विशेष सुरा बन जाती है ज़िसे स्थानीय भाषा में छफासुर कहते हैं। बिशु की पूर्व सन्ध्या पर छफासुर के 11 घड़े देवता के खलियान में एक पंक्ति में रखे जाते हैं—सब से बड़ा घड़ा सब से आगे और उससे पीछे क्रमशः छोटे घड़े। तब मन्दिर से चार नाग देवताओं के रथ वाद्य-यन्त्रों के संगीत में बाहर निकाले जाते हैं। उन्हें अर्गलों द्वारा कन्धों पर उठा रखा है। बाजा-गाजा के साथ

उन्हें कन्धों पर नचाया जाता है । इन घड़ों और देवताओं के फोटो लेने की आज्ञा नहीं है । देवताओं की अमनुति पूछने पर सभी देवताओं ने कन्धों पर ज़ोर-जोर से उछल कर अपनी नाराज़गी जाहिर की । वाद्यों ने गति पकड़ीं हैं । वादकों द्वारा 18 प्रकार का संगीत बजाया जाता है । तब चार नाग देवताओं में से सब से बड़ा देवता जीवैरड़ छफासुर क घड़ों का निरीक्षण करता है । बाजे की धुन में कन्धे पर नाचता हुआ सब से आगे बड़े घड़े के निकट पहुंचता है, घड़े को देखता है। कुछ देर हिल-डुल कर घड़े पर झुक जाता है । देवता ने उसे स्वीकार किया है । इसी तरह दूसरे और तीसरे घड़े भी स्वीकार हुए । परन्तु ज्योंहि नाग देवता चौथे घड़े के निकट आया, देवता का रथ घडे पर झुकने की बजाय दूसरी ओर झुक गया । देवता ने इसे अस्वीकार किया है । तभी एक आदमी ने घड़ा उठाया और दूर खेत में सारा छफासुर उंडेल दिया । तब एक दूसरा घड़ा लाया गया, जिसे देवता ने स्वीकार कर लिया । कुल मिलाकर दो घड़े अस्वीकृत हुए जिनकी जगह नये घड़े लाए गए और जब सारे घड़े देवता ने अनुमोदित किए तो देवता कन्धे से उतार कर खलियान में नीचे बिठा दिए गए । तब देवता के पांच कारकुन देवता के सामने एक पंक्ति में चौकड़ी मार कर बैठ गए । एक व्यक्ति ने बड़े घड़े से करवा द्वारा छफासुर निकाली । पांचों कारकुनों ने दोनों हथेलियों को सटा कर प्याला सा बना दिया । उस व्यक्ति ने करबा से उन के प्यालानुम्ना हथेलियों में छफासुर डाली । उन्होंने कुछ मंत्र पढ़ा और पढ़ते हुए झट से उसे पी डाला । उसके बाद घड़ों की छफासुर सब लोगों को पिलाई गई । पीने से पहले प्रत्येक ने कुछ छफासुर अपने-अपने बरतन में अलग से डाल दी । यह प्रत्येक घर में पूजा के लिए रख दी गई है ।

अन्तिम घड़े को छोड़ कर सब घड़ों से छफासुर निकाल-निकाल कर लोगों को पिलाई और बाँटी गई । परन्तु हर-एक घड़े को बिलकुल खाली नहीं किया गया । इसी बीच एक खुले मुंह के बड़े पतीले में छफासुर भर कर उसे मन्दिर के सामने बने चबूतरे पर रखा गया । चबूतरे के ऊपर छत तो है परन्तु चारों ओर से खुला है । तब देवता का एक कारकुन बड़ा सा डंडा लेकर चबूतरे पर उस पतीले को

रखवाली के लिए खड़ा हो गया। चारों ओर से लोगों ने पतीले पर धावा बोलना आरम्भ किया। प्रत्येक अपने हाथ में गिलास या लोटा लेकर पतीले में से छफासुर निकालने के प्रयत्न करता है। परन्तु जो भी आगे बढ़ता डंडाधारी उसे डंडे से पीट देता। परन्तु वह एक, और आक्रमण-कारी अनेक, कोई न कोई किसी ओर से झपट कर डंडे से बचता हुआ पतीले से छफासुर निकालने में सफल होता है और सीधा घर का रास्ता लेता है। यह छफासुर बहुत पवित्र मानी जाती है और अपने-अपने कुल देवता को चढ़ाई जाती है। अन्ततः किसी ने पतीले को इतना झटका मारा कि बची छफासुर भूमि पर चारों ओर बिखर गई।

तब नाग देवताओं को पुनः कन्धे पर उठाया गया। बाजे-गाजे आरम्भ हुए। बड़े नाग देवता ने पुनः घड़ों को देखना आरम्भ किया कि क्या छफासुर बांट दी गई है। प्रथम घड़े को देखा। उस पर झुक गया। पुजारी ने घड़ा उलटा दिया। रही-सही छफासुर खलियान में बिछ गई। इस तरह सारे घड़े खाली हो गए और अन्त के घड़े को भी पूरा का पूरा ज़मीन पर उलटा दिया गया। दस घड़ों की शेष छफासुर और ग्यारहवें घड़े की पूरी छफासुर के फैल जाने से सारा खलियान छफासुर से लथ-पथ हो गया। यह छफासुर पहाड़ों की चोटियों पर बसी जोगनियों और कालियों के लिए है। यदि छफासुर को घड़ों से उलटा कर भूमि पर गिराकर उन्हें भेंट नहीं किया जाता तो पहाड़ों की जोगनियां और कालियां नाराज हो जाएंगी और वर्ष भर कोई वर्षा नहीं देंगी। तब सारे लोग, स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढे लम्बी कतार बनाकर गोल वृत्त में नृत्य में जुट गए। बीच में देवता नाच रहे हैं और चारों और वृत्ताकार में सब लोग धीरे-धीरे तीन देवता बारी-बारी खलियान छोड़कर मन्दिर में चले गए। जब बड़े देवता की बारी आई तो लोगों ने और मधुर स्वरों से गीत आरम्भ किए और तेज़ गति से नाचने लगे। देवता वापिस मुड़ गया। इस तरह अनेक बार हुआ। देवता मन्दिर में जाना आरम्भ करता, तभी नृत्य और संगीत तेज होता और देवता वापिस मुड़ता। इस तरह बड़ी रात तक नाच-गाना चलता रहा। अन्ततः देवता को जाने की अनुमति मिल ही गई। उसके बाद भी लोग नाचते रहे परन्तु अब वह रौनक नहीं थी।

उधर मन्दिर में दूसरा अनुष्ठान आरम्भ होता है। अगले दिन नव वर्ष में हल जोतने के लिए शुभ मुहूर्त निकाला जाना अपेक्षित है। यही वृषभ-अनुष्ठान है । पूछने पर देवता ने 13 कटोरे डूबने का समय निर्धारित किया है। हर वर्ष देवता कटोरों की संख्या निर्धारित करता है। यह संख्या 5, 7, 9, 11, 13 की हो सकती है। एक बड़े टब में साफ पानी रखा गया है । इसे प्रातः चश्में से तब लाया गया है जब अभी कौवे ने पानी लांघा न था अर्थात् जब अभी पशु, पक्षी, नर, नारी जागे नहीं थे तभी इस पानी को चश्मे से चुपके से लाया गया है। साथ 13 कटोरे हैं । कटोरों के तलों में बड़े छेद हैं । छेद को मक्खन से बंद किया गया है, परन्तु मक्खन के बीच बारीक छेद पुनः कर दिया गया है। खाली कटोरे को टब के पानी पर फेंक दिया है। कटोरा तैर रहा है। मक्खन के बीच छेद में से पानी चढ़ने लगा है। धीरे-धीरे पानी चढ़ता गया तथा एक समय ऐसा आया जब कटोरा पानी से भर गया है और टब में डूब गया है। इस तरह 13 कटोरे डूबेंगे। सारी रात लगेगी, तब कहीं प्रातः तेरहवां कटोरा डूब जायेगा।

उधर प्रातः होते-होते सभी लोगों ने अपने-अपने खेतों में बैलों की जोड़ी को हल से जोत दिया है। केवल जोते रखा है, हल नहीं चलाया है। घास उन्हें डाल दिया गया है। घर का मालिक-मालकिन तैयार खड़े हैं । एक थाली में कुछ चिलटे हैं। ये पानी में घोले पतले आटे की घी से तली रोटियां हैं। साथ धूप है,दीप है। देवता के मन्दिर से लाई छफासुर है। सब के कान मन्दिर की ओर लगे हैं। तभी मन्दिर में तेरहवां कटोरा टब में डूब गया है। डूबते ही शंख बजा है। हल चलाने का मुहूर्त निकल गया है। आवाजें कसी गई हैं। तभी खेतों में तैयार स्वामी और स्वामिन ने प्याली के धूप-दीप से बैलों की जोड़ी की पूजा की। कुछ चिलटे बैलों को खिलाए, कुछ चिलटे स्वयं खाये । छफासुर भी पी और पिला ली गई और बचे हुए चिलटे और छफासुर को पहली हलरेखा में दबा दिया है और चारों तरफ खेतों में हल जोते जा रहे हैं। बिशु आरम्भ हो गया है। वर्ष भर का खेतों का काम आज से शुरु हुआ।

लाहुल–स्पिति क्षेत्र के निवासियों की दिनचर्या परिधान व खान–पान

— बलराम

जैसा कि नाम से ही मालूम पड़ता है लाहुल–स्पिति ज़िला दो पहाड़ी क्षेत्रों लाहुल और स्पिति से मिल कर बना है। जहां तक दिनचर्या का सम्बन्ध है गर्मियों में तो यहां सिर्फ काम ही काम होता है। काम के साथ दिन शुरु होता है और काम के साथ दिन खत्म होता है। गर्मियों का मौसम सिर्फ चार-पांच महीने का होता है। जिसके दौरान न केवल मनुष्यों के लिए सर्दियों के लिए खाने पीने का प्रबन्ध करना होता है अपितु गाय बैल और भेड़–बकरियों के लिए भी चारे आदि का प्रबन्ध करना होता है। फलस्वरूप जब देखो और जिसे देखो कुछ न कुछ काम करते हुए दिखाई देता है। और तो और घर में बैठ कर खाने पीने का भी समय नहीं होता है। रुखी सूखी रोटियों को भी खेतों में ले जा कर खाते है।

सर्दियों में काम कुछ कम जरुर हो जाता है, मगर जो कुछ थोड़ा बहुत काम होता है वह बहुत कठिन होता है उदाहरण के लिए सर्दियों में बैली (**Willow**) के वृक्ष की हरी और नरम टहनियों को काट कर भेड़ बकरियों के लिए लाना पड़ता है। एक तो चारों तरफ से बर्फ और ऊपर से बोझ उठा कर चलना कोई आसान काम नहीं होता है। सर्दियों का एक दूसरा मुख्य काम ऊन कातना और खड्डियों में पट्टी और कम्बल तैयार करना होता है।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण लाहुल-स्पिति के लोगों के परिधान और खान–पान में काफी अन्तर है।

परिधान :– एक ज़माना था जब कि लाहुल के मर्दों और औरतों के पहरावे में बहुत कम अन्तर होता था। दोनों ही "कतर" (स्वांगला लोग इसे "कदर" कहते हैं) पहनते थे। अगर कुछ अन्तर था तो केवल इतना कि औरतों का "कतर" जैसे कि आज भी होता है, सामान्यतया भूरे रंग का होता था जबकि मर्दों का "कतर" भागा और चन्द्रा घाटियों के कुछ लामाओं को छोड़ कर साधारणतया स्लेटी या सफेद रंग के होते थे। अब तो मर्दों ने "कतर" पहनना बिल्कुल ही छोड़ दिया है। "कतर" का स्थान अब कोट ने ले लिया है।

"कतर" अभी भी औरतों का मुख्य पहरावा है। "कतर" को कमर के इर्द-गिर्द एक चुन्नी के समान कपड़े से बांध दिया जाता है जिसे कि पट्टन घाटी के लोग "छिर" का नाम देते हैं। औरतें तंग पाजामा पहनती हैं, जबकि मर्दों का पाजामा कुछ ढीला सा होता है। औरतें "कतर" के ऊपर बास्कट पहनती हैं। बास्कट के बिना "कतर" अधूरा माना जाता है। सर्दी हो या गर्मी "कतर" और बास्कट औरतों के पहरावे का एक अभिन्न अंग है। "कतर" के अन्दर कमीज़ भी पहनते है। मर्द कुल्लवी टोपी की तरह एक टोपी पहनते हैं। लाहुली टोपी और कुल्लवी टोपी में कुछ भिन्नता है, और वह यह कि लाहली टोपी के किनारों में ज़री की मग्ज़ी लगी होती है और टोपी के सामने वाले हिस्से में रंगीन फूलों वाले कपड़ (जो कि कुल्लवी टोपी की मुख्य विशेषता है) के स्थान पर हरे रंग के बलेज़र का कपड़ा प्रयोग में लाया जाता है। और कभी-कभी इस बलेज़र के टुकड़े के बगैर भी टोपी बनाई जाती है। टोपी का कपड़ा आम तौर पर गहरे भूरे या गहरे लाल रंग का होता है।

आज से लगभग पन्द्रह-बीस साल पहले तक बौद्ध जातियों की स्त्रियों को छोड़ कर सभी स्वांगला और हरिजन जातियों की औरतें एक विशेष प्रकार की टोपी पहनतीं थीं जो कि एक चकती (*disk*) के समान सपाट (*flat*) हुआ करती थी। इन टोपियों के दो मुख्य हिस्से हुआ करते थे। निचला हिस्सा काले रंग का और ऊपर का हिस्सा सुर्ख लाल रंग के सूती कपड़े से बना हुआ होता था। काले कपड़े

वाले हिस्से के ऊपर कुछ ज़री का काम भी किया हुग्रा होता था। ग्रब तो ये टोपियां केवल बूढ़ी ग्रौरतों के सिरों में ही देखने को मिलती हैं।

स्पिति की ग्रौरतों के कुछ मुख्य पहनावे ये हैं : (1) हूजुक (2) तोचे (3) रिधोय (4) लिंगचे या लोक्या ग्रौर (5) शमो। 'हूजुक" पूरे बाजू की एक प्रकार की कमीज़ होती है जिसमें न तो बटन लगे होते है और न ही कालर (*collar*)। इसी प्रकार से "तोचे' ग्रौर "रिधोय" एक विशेष प्रकार के ढीले-ढाले से चोगे होते हैं। "रिधोय" सामान्यतथा ऊन की बनी होती है जबकि "तोचे" सूती भी होते हैं। "रिधोय" में रंगीन कपड़े का किनारा लगा होता है जिसे कि "थचक" कहा जाता है। इन्हें कमर के इर्द-गिर्द एक कपड़े से बांध दिया जाता है जिसे कि "किरा" कहा जाता है। "किरा" ग्राम तौर पर सिल्क का बना होता है। लिगंचे ऊनी शाल को कहते हैं। और अगर ऊनी शाल के ऊपर लोम (*fur*) लगा दिया जाये तो वह "लोक्या" बन जाता है। वैसे तो स्पिति की औरतें अब कम ही टोपी पहने देखने को मिलतीं हैं फिर भी सर्दियों में ग्रभी भी लगभग सभी ग्रौरतें लोम (*fur*) की एक सुरम्य (*picturesque*) टोपी पहनती हैं जिसे कि "शमो" कहा जाता है। "शमो" में मूंगे और फिरोजे (*turquoise*) के दाने लगे होते हैं।

स्पिति के मर्द भी लोम (*fur*) की टोपी पहनते हैं, जिसे कि "लिगजिमा" कहते हैं। औरतों की तरह मर्द भी "रिधोय" ग्रौर "तोचे" रूपी चोंगे पहनते हैं। कुछ चोगे सूती भी होते हैं जिनमें कि भेड़ का लोभ लगा होता है। इन्हें "चारलक" कह कर पुकारा जाता है इसी प्रकार से कुछ चोगे भेड़ या बकरी के चमड़े के भी बने होते हैं जिन्हें कि "थक्पा" कहा जाता है। औरतों की तरह मर्द भी चोगे को 'किरा' के द्वारा कमर के साथ बांध कर रखते हैं।

औरतें ग्रौर मर्द दोनों ही चुस्त पाजामा पहनते हैं। ये लोग एक विशेष प्रकार के जूते पहनते है जिनका तला तो बिना-कमाये हुए चमड़े का होता है और ऊपरी हिस्सा गर्म कपड़े का होता है। जूते ऊपरी हिस्सा घुटने तक लम्बा होता है। सर्दी से बचने के लिए घुटने के नीचे

पाजामे को जूते के अन्दर डाल कर बांध दिया जाता है। इस जूते को 'ल्हम्' कहा जाता है।

लाहुल-स्पिति की एक विशेष बात यह है कि वहां कोई भी व्यक्ति नंगे पांव चलते दिखाई नहीं देता है। अगर स्पिति के लोग 'ल्हम्' पहनते हैं तो लाहुल के लोग 'पुला' पहनते हैं। 'पुला' लमे–छुआ' नामक एक विशेष प्रकार के जौ के पुआल और भांग के रेशे से बनाया जाता है। 'लमे-छुआ' के पुआल 'पुला' का तला बनाया जाता है जब कि भांग के रेशे को 'पुला' के ऊपरी हिस्से में प्रयोग में लाया जाता है। 'पुला' बर्फ में चलने में न केवल आरामदायक है अपितु गर्म भी होता है। परन्तु यह टिकते बहुत कम हैं। इसी कारण से अब इन का प्रयोग लगभग लुप्तप्राय सा ही हो गया है 'पुला' को टिकाऊ बनाने के लिए इसके तले में भेड़/बकरी के चमड़े को प्रयोग में लाया जाता है। 'पुला' औरतें बनाती हैं।

गहने यहां के लोगों के परिधान का एक अभिन्न अंग है। आज कल लाहुल में मर्द केवल एक अंगूठी को छोड़ कर और कुछ गहने नहीं पहनते हैं। फिर भी आज से लगभग तीस साल पहले तक मर्द भी सोने के दो क़िस्म के कर्ण-फूल (*ear rings*) पहनते थे जिनमें से एक का नाम 'मुड़की' तथा दुसरे का नाम 'क्य–उड़ी' हुआ करता था। 'क्य–उड़ी,' 'मुड़की' से मंहगे होते थे। एक जोड़ी 'मुड़की' का बजन लगभग दस ग्राम हुआ करता था जबकि 'क्य–उड़ी' बीस ग्राम से भी ज्यादा बज़न का हुआ करते थे।

लाहुल की औरतें शुरु से ही गहनों की बहुत शौकीन रही हैं। यहां की औरतों के गहनों को हम दो भागों में बांट सकते हैं। सर्व प्रथम वे गहने जो केवल बौद्ध धर्म की औरतें ही कभी पहना करती थी या आजकल पहनती हैं, तथा दूसरे वे गहने जो न केवल बौद्ध-धर्म की औरतें, बल्कि सवांगला, लुहार तथा अन्य हरिजन समुदाय की औरतें भी पहनती हैं। बौद्ध धर्म की औरतें आज से लगभग दो–तीन दशक पहले तक तो बहुत सारे गहने पहना करती थी जिसमें से बहुत से गहनों का प्रचलन तो अब लगभग समाप्त सा ही हो गया है। इनमें से कुछ के

ये नाम हैं : (1) पोशेल (2) डुन्गकी (3) किर–किरज़ इत्यादि । बौद्ध–धर्म की औरते सिर में भी गहने पहना करती थी उदाहरण के तौर पर 'पोशेल' और 'किर–किरज़' सिर में पहनने के गहनों के कुछ नाम हैं । 'किर–किरज़' चांदी के बने होते थे जबकि 'पोशेल' पीले रंग का पत्थर होता है जिसे कि कपूर कह कर पुकारते हैं ।

कुछ गहने ऐसे भी हैं जिनका प्रचलन सभी समुदाय की औरतों में पाया जाता है। इन गहनों के कुछ किस्मों के नाम इस प्रकार से हैं : (1) लौंग (2) फुली या टिल्ली (3) कन्ठी (4) नङ (5) गुइथब तथा 6 तड़का इत्यादि ।'लौंग' हमेशा सोने का ही बना होता है जिसका वज़न छः ग्राम या इससे अधिक का होता है। इसे नाक में पहना जाता है। साईज में काफी बड़ा होने के कारण इस गहने का रिवाज भी दिन व दिन खत्म होता जा रहा है। 'लौंग' में मानिक (*ruby*) की तरह लाल रंग का एक कीमती पत्थर जड़ा होता है जिसे कि स्थानीय भाषा में 'चूनी' कहा जाता था। वैसे कभी–कभी फिरोजे का भी इस्तेमाल किया जाता है।

'फुली या टिल्ली' भी नाक में ही पहनी जाती' है परन्तु 'लौग' के मुकाबले में इसका बज़न कम होता है। 'लौंग' की तरह यह भी हमेशा सोने की ही होती है।

'कन्ठी' गले में पहनने का एक आभूषण है। 'कन्ठी' पांच प्रकार की होती है : (मूंगे की कन्ठी (2) चान्दी की कन्ठी (3) शुद्ध मोती की कन्ठी (4) सोने की कन्ठी तथा मूंगा–मोती-सोने की कन्ठी । मूंगे की कन्ठी लगभग सभी औरतों के गले में देखी जा सकती है। मूंगे की कन्ठी भी दो प्रकार की होती है, एक तो शुद्ध मूंगे की कन्ठी जिसमें कि सोने का पैंन्ड़ल (*pendul*) लगा होता है तथा दूसरी किस्म की कन्ठी के प्रयोग में आने वाला मूंगा सस्ता होता है। यह मूंगा सामान्यतया लाल रंग का होता है जवकि शुद्ध मूंगे का रंग फीका–गुलाबी होता है। शुद्ध मूंगे की कन्ठी काफी मंहगी होती है।

शुद्ध मोती की कन्ठी और सोने की कन्ठी तो वहुत कीमती होती

है इसलिए साधारण परिवार की औरतें इन्हें पहन नहीं सकती हैं। केवल कुछ गिने-चुने साहूकार परिवार की औरतें ही इन्हें पहन पाती हैं।

चान्दी की कन्ठी का प्रचलन अब लगभग समाप्त सा हो गया है। यह शुद्ध चान्दी के सिक्कों जैसे कि चवन्नी, अठन्नी और रूपया या चान्दी के छोटे-छोटे दानों को पिरो कर बनाई जाती थी।

'नङ' को कलाई में पहना जाता है। यह भी दो प्रकार का होता होता है, (1) सोने का तथा चांदी का। प्रति जोड़ी चांदी के नङ का बज़न 200 ग्राम से लेकर 250 ग्राम तक होता है। शायद अपने इसी भारी-भरकम आकार के कारण ही इस का प्रयोग अब लगभग समाप्त हो चुका है। चांदी की दिन प्रतिदिन बढ़ती कीमत भी शायद इसके लुप्त होने में सहायक रही होगी। लुटेरे किस्म के व्यापारी गांव-गांव जाकर चांदी के हर प्रकार के गहनों को अनपढ़ और अनभिज्ञ गांव वालों की अज्ञानता का फायदा उठा कर बहुत कम ही कीमतों पर खरीद कर ले आये हैं।

ऐसा लगता है कि किसी ज़माने में शायद लाहुल के मर्द भी चांदी के नङ पहनते होंगे, क्योंकि अभी भी कहीं-कहीं पर दुल्हों को शादी से सम्बन्धित रस्मों को पूरा करने के लिए नङ पहने हुऐ देखा जा सकता है सोने के नङ बहुत कम औरतों की कलाई में देखने को मिलता है। हां सोने की चूड़ियाँ पहने औरतें दिखाई देती है।

'गुइथव' अगूंठी को कहते हैं जो साधारणतया सोने तथा चांदी की होती है। मर्द और औरत सभी इसे पहनते हैं। एक 'गुइथव' का बज़न पांच या छः ग्राम के लगभग होता है।

अब तक हम उन गहनों की बातें कर रहे थे जो कि लाहुल में पहने जाते हैं। स्पिति में पहने जाने वाले गहनों का भी संक्षिप्त सा वर्णन कर देना उचित रहेगा। वैसे तो स्पिति के लोग भी गहनों के बहुत शौकीन हैं, फिर भी वहां सोने के गहने उतने अधिक पसन्द नहीं किये जाते हैं जितने कि चांदी के गहनों को पसन्द किया जाता है। यहां

लगभग सभी के सभी गहने चांदी के बने होते है जिनमें कि मूंगे, फिरोज़ा, सीप तथा मणि इत्यादि जड़े होते हैं।

स्पिति के मर्दों के कुछ मुख्य गहनों के नाम इस प्रकार से हैं : (1) गक्लोंग (2) उल्टिक (3) दू तथा (4)सुरदुप् इत्यादि। 'गक्लोंग' एक कर्णफूल का नाम है जो की चांदी का बना होता है। इसमें मणि और फिरोज़ा जड़ा होता है। 'उल्टिक' कण्ठी को कहते हैं। मूंगे, फिरोजे मणि तथा सीप इत्यादि को एक साथ पिरो कर तैयार किया जाता है। 'दू' चांदी से बना एक कड़ा होता है जिसे आम तौर पर दाहिनी कलाई पर पहना जाता है। 'सुरदुप्' चांदी की अंगुठी को कहते हैं।

स्पिति की औरतों के कुछ मुख्य गहने हैं : (1) बेराग' (2) कोंटा (3) द्रिका और घुंगलक् इत्यादि। 'बेराग' एक कपड़े का टुकड़ा होता है जिसमें चांदी के ताबीज़ फिरोजे के दाने इत्यादि सी कर ड़ाले जाते हैं। इसे सिर पर पहना जाता है और पीठ की ओर से कन्धे से भी नीचे लम्बा होता है। कई पुस्तकों में भी 'बेराग' का वर्णन मिलता है।

'कोंटा' कर्णफूल को कहते हैं। 'द्रिका' चांदी का बना सुरक्षा-पिन नुमा एक हुक होता है जिसे कि शाल के दोनों किनारों को नियन्त्रण में रखने के काम में लाया जाता है। 'द्रिका' को कमरबन्द के साथ बान्ध कर रखा जाता है। 'धुंगलक' बड़े-बड़े खोखले सीप की बनी चूड़ियों को कहते हैं। वैसे अब 'धुंगलक' पहनने की प्रथा लगभग खत्म ही हो चुकी है, फिर भी बूढ़ी औरतों की कलाईयों में अभी भी इसे देखा जा सकता है। पुरुषों की तरह औरतें भी 'उल्टिक', 'दू' तथा 'सुरदुप्' इत्यादि पहनती हैं।

खान-पान :- लोगों के खान-पान और आहार सम्बन्धी आदतों के निर्धारण करने में वहां की भौगोलिक परिस्थिति और जलवायु महत्व-पूर्ण भूमिका निभाते हैं। आज से लगभग दो दशक पहले तक लाहुल

---

1. Harcourt, A.F.P., "The Himalayan Districts of Kooloo. Lahoul & Spiti," 1972 edition, P.-46
2. Khosla, G.D.,"The Himalayan circuit." 1956, pp. 78-79

की मुख्य फसलें गेहूं, जौं काठु (*buckwheat*) और आलू हुआ करती थी। ये फसलें केवल अपने उपयोग के लिए ही उगाई जाती थी। जब से लाहुल की सड़कों में गाड़ियां चलनी शुरु हुई हैं, तब से मात्र आलू और गेहूं ही मुख्य फसलें रह गई है और इन में से भी आलू एक व्यापारिक फसल बन गई है। (लाहुल के बीज आलू अपने देश में ही नहीं अपितु पड़ौसी देशों में भी मशहूर हैं) अर्थात आलू को बड़े पैमाने पर केवल इसीलिए बोया जाता है ताकि इसे बेच कर पैसा कमाया जा सके। और जहां पैसा आता है वहां लोगों के आहार से सम्बन्धित आदतों में परिवर्तन आना स्वाभाविक बात है अतः आज लाहुल में जौ और काठु के स्थान पर चावल और गेहूं मुख्य-आहार के आधार बन गये हैं। अब तो स्थिति यह है कि कई-कई गांवों में जौ और काठु की बीजाई ही बन्द कर दी गई है।

लाहुल के कुछ पकवानों के नाम हैं: (1) मारचू (2) बुटोरु (3) लोआड़ पा लोआड़ (5) छती (थुक्पा) (6) खवालग् (7) रोटी (8) टुर (9) पुग् तथा (10) छकु-चा इत्यादि।

'मारचु' घी में तले एक प्रकार के भटूरे होते हैं। इसमें स्वाद के अनुसार काला जीरा डाला जाता है। तीज-त्यौहार के समय बनने 'मारचु' में मिठास के लिए चीनी या गुड़ भी डालते हैं। 'लोआड़' काठु के आटे और बेसन को बराबर-बराबर मिला कर बनाया जाता है। कहीं-कहीं पर लोग बेसन के स्थान पर गेहूं या जौ का आटा भी मिलाते हैं। इस आटे को पानी में अच्छी तरह से मिला कर एक लेई सी बना दी जाती है। खमीर उठाने के लिए मीठा सोडा या 'फब' या 'चक्ती' या दही प्रयोग में लाया जाता है। फब बनाने का तरीका केवल भ्रमणशील खाम्पों को ही आता है। वे इसे किसी जंगली जड़ी-बूटी को कूट कर बनाते हैं। 'चक्ती' बनाने के लिए भी 'फब' का प्रयोग होता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर लाहुल के स्वांगला समुदाय के लोग 'चक्ती' नहीं पीते हैं इसलिए वे लोग 'लोआड़' की लेई में खमीर उठाने के लिए 'फब' और 'चक्ती' का प्रयोग न करके मीठा-सोड़ा या दही का उपयोग करते हैं। अगर दही न मिले तो छाछ से भी काम चलाया जाता है। इस प्रकार से तैयार की गई लेई को बड़े-बड़े तवों

के ऊपर गोल-गोल बना कर पकाया जाता है। कभी-कभी भरूआ (*stuffed*) 'लोआड़' भी बनाया जाता है जिसे 'पा-लौआड़, कहा जाता है।

कुछ एक परिवारों को छोड़ कर लाहुल-स्पिति के लगभग सभी लोग मांसाहारी है। इसलिए यहां मांस के विभिन्न प्रकार के पकवान बनते हैं। इन में से सब से अधिक लोकप्रिय एक पकवान का नाम 'छ्ती' है। छ्ती एक प्रकार का मांस का शोरबा (*soup*) होता है। मांस के छोटे-छोटे टुकड़े काट कर उसे अच्छी तरह से उबाला जाता है। जब मांस पक जाये तो उस में थोड़ा सा 'रल' (जौ के दानों को थोड़ा सा भुन कर उसे पीसा जाता है जिसे कि 'रल' कहते हैं) डाला जाता है ताकि सूप थोड़ा सा गाड़ा हो जाये। स्वाद के अनुसार नमक मिला कर इस सूप को लोग बड़े चाव से पीते हैं "छ्ती" लाहुल-स्पिति में बहुत लोकप्रिय है। परन्तु हर वक्त मांस के लिए खर्च निकालना सम्भव नहीं होता है। अतः लोगों ने इस का भी हल निकाल लिया है। मांस के स्थान पर थोड़े से चावल और आसानी से उपलब्ध सभी हरी सब्जियों को मिला कर 'छ्ती' बनाया जाता है, जिसे 'टुर-छ्ती कहते हैं और अगर चावल और हरी सब्जियां भी न मिले तो उनके स्थान पर दूध डाल कर छ्ती बनाया जाता हैं। इसे 'ड़ेग्-ड़ेग् छ्ती' कहते हैं।

यहां के लोग नमकीन चाय के बहुत शौकीन हैं। नमकीन चाय में चीनो के स्थान पर नमक और स्वाद के अनुसार नमक डाला जाता है। इसी प्रकार से चाय-पत्ती के स्थान पर चाय के पौधे की मुलायम टहनियों को प्रयोग में लाया जाता है। चा-थङ (अर्थात् चाय का पानी) दूध, मक्खन और नमक को लकड़ी के बेलनाकार खोखले बर्तन, जिसे कि 'दोङमो' कहते हैं, में डाल कर अच्छी तरह से हिलाते हैं ताकि सब कुछ अच्छी तरह से मिल जायं। प्रति व्यक्ति कम से कम पन्द्रह-बीस कप चाय पी जाता है। अब तो चीनी वाली चाय भी एक आम बात हो गई हं।

नमकीन चाय में सत्तू, देसी घी और चीनी मिला कर भी खाया

जाता है जिसे खवालग् का नाम दिया जाता है। इसके अतिरिक्त गेहूं या जौ को सावधानी पूर्वक भुन कर इसमें बादाम, अखरोट या थांगी (*chestnut*) की गिरी को मिला कर भी खाते हैं। इसे पुग कहते हैं। यहां यह बता देना उचित रहेगा कि 'छ्ती' 'खवालग्' तथा 'पुग' केवल अल्पाहार के रूप में ही प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पकवान ऐसे भी हैं, जैसे कि 'टिश्कोड़ी' 'ग्रांथुर' 'अक्तोरी' 'दू' 'बोति' कुलु इत्यादि, जिनका कि प्रयोग अब बिल्कुल ही समाप्त हो चुका है। यह शायद आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार के कारण सम्भव हो सका है, क्योंकि ये सभी पकवान मोटे अनाजों से तैयार किये जाते थे।



किन्नौर में प्रचलित सांस्कृतिक मान्यताएं तथा संस्कार

— ठाकुर सेन नेगी

सन् 1981 वाली जनगणना के अनुसार किन्नौर की जनसंख्या निम्नलिखित रूप में है :—

कुल जनसंख्या	59,547	
अनुसूचित आदिम जातीय	44,583	74.86%
अनुसूचित जातीय	6,331	10.64%
अन्य	8,633	14.50%
	59,547	100.00

जितनी मूल तथा स्थाई आवादो है वह या अनुसूचित आदिम जातीय हैं अथवा अनुसूचित जातीय। जैसा कि ऊपर लिखित वर्गीकरण से विदित है, भारी मात्रा में अधिकांश अनुसूचित आदिम जातीय है जो जनसंख्या न अनुसूचित आदिम जातीय और न ही अनुसूचित जातीय गर्दानी गई है वह या तो किन्नौर के रहने वाले लोग नहीं है और कमोवेश सीमित समय के लिए नौकरी चाकरी हेतु जनगणना के समय किन्नौर में पाए गए. या किसी मूल निवासी ने बेसमझी में अपनी कोई ऐसी जात लिख मारी है जो अनुसूचित जातीय जात न हो और यदि ऐसे व्यक्तियों ने कोई अन्य जात बता दी तो जात बताने मात्र से ही वह अनुसूचित आदिम जातीय वर्ग का गिने जाने से भी वंचित रहेगा।

इस लेख में सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्कारों का उल्लेख

केवल उन्ही लोगों के सम्बन्ध में समझा जाएगा जो या अनुसूचित आदिम जातीय है या अनुसूचित जातीय, क्योंकि किन्नौर का कोई मूल तथा स्थाई निवासी किसी तीसरे वर्ग में सिवाए किसी अशुद्धि के जाना ही नहीं चाहिए।

अनुसूचित जातियां :– इनमें से कुछ तो वे परिवार हैं जो मूल रूप से किन्नर आदिम जातियों के ही थे और अब यदि वे लौहार, बढ़ई आदि तथा कथित जातियों में शुमार होते हैं और परिणाम स्वरूप अनुसूचित जातियों में शुमार होते हैं, अनुसूचित जातियों में नहीं तो कारण केवल इतना ही है कि जो पद्धति कार्य विभाजन की प्रत्येक समाज में किसी न किसी मरहले पर स्थापित हो जाती है, आरम्भ में तो उसी पद्धति मात्र के अधीन इन परिवारों का एक वर्गीकरण हो गया और विशेष नाम उनके धन्धे के अनुसार पड़ गया, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता चला गया यह वर्गीकरण जातपात का रूप धारण कर गया और जैसा कि लगभग सभी प्रकार के समाजों के इतिहास में होता आया है इस जात-पात के रूप में कुछ छुआछात का रंग भी आ गया। शेष आबादी जो जनगणना में अनुसूचित जातीय लिखी हुई है और यह शेष कुल का अधिकांश भाग है, वह किन्नौर के अन्दर बाहर से आया हुआ जान पड़ता है और उनकी मात्री बोली स्थानीय अनुचिसूत आदिम जातीय बोली नहीं है बल्कि पृथक ही बोली है जिसमें किन्नौर से बाहर रामपुर तहसील आदि साथ लगते क्षेत्रों के हरिजन लोगों की बोली में ऐसी सीमा तक समानता पाई जाती है कि बहुत सारे किन्नौर के हरिजन परिवारों का उन क्षेत्रों से किन्नौर में किसी समय पर आया होना खासा सम्भावित दिखता है।

किन्नौर की हरिजन आबादी, मूलतः चाहे ऊपरलिखित दोनों स्त्रोतों में से किसी से भी निकली है, अब पुश्तों और अनेक पुश्तों से किन्नर समाज के भीतर रहने के फलस्वरूप सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्कारों में अब स्वर्णों से इतने घुल-मिल गये हैं कि आबादी के हरिजन तथा स्वर्ण कहलाए गए दोनों वर्गो में केवल सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्कारों के आधार पर भिन्नता की पहचान साधारणतः असम्भवहै। दूसरे शब्दों में किन्नौर की अनुसूचित आदिम जातीय तथा

अनुसूचित जातीय सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्कारों में बहुत कम अन्तर है। जातपात पर आधारित जो छूतछात से कुछ भिन्नताएं थी वह अब बड़े वेग से छूतछात के धटने के साथ-साथ मिटती चली जा रही है। अतः साधारणतः सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्कारों का जो वर्णन आगे आएगा वह समूचे किन्नौर समाज का होगा और उल्लेखनीय भिन्नताएं अधिकांश क्षेत्रीय होंगी, जातीय नहीं।

अनुसूचित आदिम जातीय भाग :- आरम्भ में किन्नौर किन्नर आदिम जातियों का धर मानां जाकर यहां की समस्त आबादी किन्नर आबादी के तौर पर ली गई। यह नाम किन्नर बाद में आधुनिक प्रचलित प्रथा के दृष्टिगोचर किन्नौरा तथा कनौरा भी सरकारी कागजों में बढ़ता जाने लगा। और पिछले कुछ वर्षों में जो लोग हरिजन कहलाते हैं उन्हें कुछ ऐसा ख्याल हो गया कि उन्हें अनुसूचित आदिम जातीय गिने जाने के मुकाबले में अनुसूचित जातीय गिना जाना उनके लिए अधिक हितकर होगा, जिस कारण पिछली कुछ जनगणनाओं का ऐसे लोग अपने को लौहार, बढ़ई आदि-आदि ऐसी जातों का लिखते रहे हैं जो अनुसूचित जातियों की सूची में सम्मिलित है और फलतः अब जनगणनाओं में किन्नौर के अन्दर कुछ संख्या इन अनुसूचित जातियों की दर्ज होकर आ रही हैं।

उससे भी कुछ पिछले चन्द वर्षों में एक और विचारधारा किन्नौर में चलने लगी है और वह यह कि जो लोग, विशेषतः तिब्बती सीमावर्ती और ग्रामीणों में, और वह यह कि जनगणना के समय अपना धर्म 'बुद्ध' लिखना चाहिए हिन्दू नहीं इस कारण अब किन्नौर की जनसंख्या में जो अनुसूचित आदिम जातीय लोग हैं उनमें से अधिकांश तो अनुसूचित आदिम जातीय किन्नर अथवा किन्नौरा अथवा कनौरा पूर्ववत लिखे जाते हैं परन्तु कुछ लोग बौद्ध नामी अनुसूचित आदिम जातीय दर्ज होने लगे हैं।

सांस्कृतिक मान्ययाएं :- भावनाओं के दृष्टिकोण से आदि मानव तथा उच्च श्रेणी के वासियों में अधिक अन्तर नहीं था। मानव जन्म से ही

मन तथा मस्तिष्क में उच्चतम वासियों से भी उत्कृष्ट निर्मित हुआ। ज्यों-ज्यों उसका मन तथा मस्तिष्क विकसित होता गया वह अपनी भावनाओं में सुधार लाता गया और इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उसके रहने-सहने में तथा उसके मेल-जोल में भी आर्थिक तथा भौतिक विकास होता गया और भावनाओं तथा सूझबूझ में भी शिष्टता जागृत होती गई जिन्हें सामूहिक रूप से संस्कृति तथा सभ्यता कहा गया है। स्वाभाविक ही है कि आरम्भ में किसी भी ऐसे प्रगतिशील समाज में जिसके लोग स्वभाव से ही बुरे नहीं है कृत्रिमता नही होगी या कम होगी,परन्तु जीवन में भौतिकवाद के बढ़ने के साथ-साथ यह मानसिक सरलता और भावनाओं की शुद्धि में कमी आती जाएगी।

किन्नौर पिछले लगभग 30 वर्षों से पहले भौतिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। उस जमाने में किन्नौर में लोग अपनी सच्चाई अपनी ईमानदारी, सद्दयता, नेकनियति, आतिथ्य सत्कार तथा वीरता जैसे सदगुणों के लिए विख्यात थे क्योंकि यही कनौरों की सांस्कृतिक मान्यताएं और मर्यादाएं अतीत से चली आई थी। आदि कन्नौरों अर्थात किन्नर जाति जिसका उल्लेख वेदों और पुराणों से चला आया है, नृत्य, गायन तथा पुष्प प्रेमी भी थे। किन्नर देव सभाओं में प्रशंसित गायक वर्णित है और उनके कण्ठ का सुरीलापन एक दृष्टान्त का विषय रहा हैं।

बाहर वालों के मत :- उस काल के किन्नौरों के बारे विदेशों से लगभग सन् 1800 से 1930 तक आने वाले यात्रियों ने जो कुछ लिखा हैं उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं : -

'ये लोग वीर, साहसी, स्वतन्त्र खुले दिल के, शिष्ट, अतिथि सत्कारी, ईमानदार तथा सच्ची नियत के हैं।'

(General of a tour of the Himalayan Mountains by James Baillie Frazer)

'ये लोग स्पष्टवादी, चुस्त, उदार हृदय आतिथ्यशील और बरत-

बरताव में अत्यन्त मानवीय होते हैं। चोर तथा डाकू होते ही नहीं और रूपये पैसे के मामले में उनके वचन पर अन्ध-विश्वास किया जा सकता है। ये स्वयं भी किसी पर अविश्वास या सन्देह नहीं करते हैं।

(Account of Kwonawr by Alexander Jerald)

'ये साहसी कुनावरी लोग ही लगभग एक मात्र फौजी थे जो पुलों को तोड़कर तथा गोरखा सेना के मार्ग में नई बाधाएं डालकर उन्होंने गोरखों को इतना तंग किया कि गोरखों के सेनापति ने इन लोगों के साथ सुलह करने में ही बुद्धिमत्ता पाई।'

(Account of Kwonawar by Alexander Gerald)

'आस-पास की पहाड़ी जनजातियों में वही लोग थे जिन्होने सफलता के साथ गोरखों के आक्रमण को रोका'——

(Imperial Gazetter of India Vol-III by Hunter)

आज भी किन्नौर के भारी मात्रा में अधिकांश लोग उपरोक्त मान्यताओं के पुजारी हैं परन्तु बिगाड़ आरम्भ हो चुका हुआ है और और यह रोग फैलता जा रहा है। फैलने के दोनों अर्थ है। न केवल रोगियों की संख्या में ही वृद्धि हो रही है बल्कि रोग एक-एक करके सभी मान्यताओं की ओर अग्रसर होता जा रहा है। जिस पहाड़ी क्षेत्र में मानसून की हवाएं भी डरते-डरते घुसती थीं और वह भी किन्नौर भर में नहीं, उसी इलाके में अब यातायात की दिशा से बहते हुए निवासियों के माध्यम से और अनेक प्रयोजनों के लिए बाहर से इतने लोग आ गए हैं और अभी आने वाले हैं कि किसी समय अधिक नहीं तो लगभग आधी आवादी तो बाहर वालों की होगी चाहे उनमें से बहुत से स्थाई निवासी न बन पाएं। बाहर से आने वाले अच्छे भी हैं और बुरे भी। अच्छे नये युग की अच्छाईयां लाते हैं तथा बुरे बुराईयां और बुराईयां अधिक अच्छाईयां कम ही। फिर मान्यताओं में नकद-नारायण की पूजा और भौतिकवाद में श्रद्धा भी रूपये पैसै को अधिक और अधिक रहन-सहन में आ जाने का भी बड़ा प्रभाव पड़ता जा रहा है

जिसे आधुनिक सभ्यता कहा जाता है उसकी मान्यताएं हैं ही भौतिक-वादी। सरकार या किसी और दिशा से पर्याप्त मात्रा में कोई प्रयास नहीं हो रहा है जिससे पुरानी मान्यताएं जीवित रहें तथा पनपती चलें।

गाने-बजाने और फूल पहनने के स्वाभाविक रूप अभी तक बने हुए हैं यद्यपि सिनेमा, रेडियो, नाटक अभिनय आदि नई बातें परम्परा-गत मेले और त्यौहारों के साथ प्रतियोगिता में आ गई हैं और उसका कुछ तो प्रभाव पड़ना ही हुआ।

मैंने किन्नौर के लोगों की सांस्कृतिक मान्यताओं के बारे ऊपर जो कुछ कहा है वह विश्व भर में शायद प्रत्येक उस बिरादरी अर्थात् समुदाय के बारे में कहा जा सकता है जहां अधिकांश नैतिकता पर आधारित पुरानी सांस्कृतिक मान्यताओं का सामना प्रायः भौतिकता से प्रेरित नवीन मान्यताओं के आक्रमण से है।

मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ जब मैं यह कहता हूँ कि पुरानी तथा नई नैतिकता प्रेरित तथा भौतिकता प्रेरित दोनों मान्यताओं में संतुलित मिश्रण होना चाहिए। किन्नौर जैसी जगहों में अभी तक भी पुरानी मान्यताएं इतनी प्रबल हैं कि केवल नई मान्यताओं के पुट देने मात्र से नये जमाने वाली उन्नती भी चली रहेगी और मानव समाज में जो सारभूत धर्म है वह भी जीवित रहेगा और इस प्रकार के सामाजिक प्रयास किन्नौर सरीखे आदि वासीय क्षेत्रों के दृष्टांत पर नये समाज में भी आजमाए जा सकते हैं। इतना अन्तर शायद अवश्य होगा कि उन दशाओं में जहां भावुकता की बुराईयां बहुत फैल गई है, पुट भावुकतावादी के नहीं वरन नैतिकतावादी का देना पड़ेगा और पुट की मात्रा कहीं अधिक होगी।

मेले-त्यौहार :- अतीत के प्राचीन परम्परागत किन्नौर के किसी मेले को केवल मेला और किसी त्यौहार को केवल त्यौहार नहीं कहा जा सकता। वहां का हर मेला त्यौहार भी है और प्रत्येक त्यौहार मेला भी। कहने का मतलब यह है कि हर अवसर पर देवी-देवताओं की पूजा और

मान्यता भी आवश्यक रहती है तथा नाचना-गाना भी अनिवार्य होता है। अब लामाओं वाले बुद्धमत तथा कुछ नये अन्य मतों तथा साधारण हिन्दू धर्म सम्बन्धि कुछ त्यौहार ऐसे आते रहे हैं जिन्हे नाच गाने के बिना भी मनाया जाता हैं। लामाओं बाले त्यौहारों का भी कुछ में तो नृत्य अनिवार्य है परन्तु सभी में नहीं।

ये मेले-त्यौहार किन्नौर के सांस्कृतिक जीवन में बड़ा प्रमुख स्थान रखते हैं। किन्नौर के कुछ भागों में तो कोई शायद ही महीना होगा जिस में कोई न कोई छोटा मोटा मेला-त्यौहार न मनाया जाता हो। इन मेलों में से कुछ का सम्बन्ध ऋतु से है, कुछ की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है और कुछ केवल देव पूजनार्थ मनाए जाते हैं। इनके अध्ययन से पता लगता है कि किन्नौरों की मनोवृति में देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा कूट-कूट कर भरी हुई है। आखिर आदि किन्नर स्वयं साधारण मानव से कुछ ऊपर और कुछ अच्छे दर्जे के देवता माने जाते रहे। प्रत्येक ग्राम में, सिवाए थोड़े से ग्रामों के, कम से कम एक मुख्य देवी या देवता अपना है और उस मुख्य देवी या देवता के इर्द-गिर्द अधीस्नथ कुछ और भी हैं। जिन थोड़े ग्रामों का अपना देवता या अपनी देवी नहीं है और जो इने-गिने ही हैं वह पास के बड़े गांव के देवी देवता को अपनाते हैं। दृष्टान्त के तौर पर कनई तथा बटूरी और सापनी का एक ही देवता है और यही स्थिति ब्रेलंगी, दूनी तथा कोठी आदि ग्रामो की है। भावा में भी सभी ग्रामों के एक ही स्थान पर मुख्य देवता रहते हैं।

पर्दा:- किन्नौर समाज में महिलाओं को पर्दे में रखने की प्रथा कभी नहीं रही है। मर्दों तथा औरतों में मिलना-जुलना बल्कि आम तौरपर खुला रहा है। परम्परागत योन-नैतिकता का स्तर दृष्टान्त की उच्चता का था परन्तु अब, मुख्यतः बाहर से बुरी हवाओं के घुस जाने के कड़वे फलस्वरूप और साथ ही कुछ स्वयं किन्नौर समाज के भीतर ढील और छूट आ जाने के परिणाम स्वरूप, वह पुराना उच्च स्तर तो रहा नहीं है। विवाह से पूर्व यदि प्रेम योन सम्बन्ध तक चला गया तो वह साधारणतः विवाह के वायदे के पश्चात ही हुआ करता था और

आमतौर पर वायदा पूरा किया जाया करता था। कभी-कभार कोई वायदा इसके विपरीत हुआ तो समाज में बड़ी हलचल मचा करती थी और महिलाएं जान पर खेला करती थी। कोई 15–16 वर्ष पूर्व ही एक घटना ऐसी हुई बताई जाती है जिसमें एक युवती ने सतलुज नदी में कूद कर जान दे दी और इतना ही नहीं बल्कि सहानुभूति में साथ ही उसकी सहेली ने भी। यही सामाजिक प्रक्रिया चोरी–चकारी की घटनाओं के प्रति हुआ करती थी। परन्तु अब चोरियाँ नई बात नहीं रही है और विवाह का वचन देकर और किसी महिला का अनुचित लाभ उठाकर वचन से फिर जाने की घटनाएं जहां आरम्भ में बाहर से आए हुए मर्दों द्वारा ही होने लगी थी अब स्वयं किन्नौरों का नाम भी बीच–बीच में सुनने को आता है। यह सब कुछ होते हुए भी केवल स्त्री पुरुष सम्बन्धित विषय में ही नहीं बल्कि नैतिकता के सभी क्षेत्रों में अभी तक औसत किन्नौर निवासी, चाहे वह पुरुष हो चाहे स्त्री, अपेक्षाकृत सराहना सहित उल्लेखनीय मात्रा में कई दूसरे इलाकों से अधिक चरित्रवान हैं।

बहुपति प्रथा :– यह प्रथा क्या कभी शत-प्रतिशत रही, इसका उत्तर देना कठिन है। हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। बहुपति प्रथा के दो बलवान प्रेरक रहे हैं। एक तो आर्थिक तथा सामाजिक मजबूरियां और दूसरा पाण्डवों की मिसाल। पुश्त दर पुश्त, स्मरण तथा स्मृति के अन्दर, कई पुश्तों से अनेक घराने तथा कुटुम्ब ऐसे रहे हैं जहां बहुपति प्रथा वास्तिविक जीवन में व्यवहृत नहीं रही यद्यपि ऐसे घरानों तथा कुटुम्भों में भी उसे बुरा नहीं माना जाता था। नैतिकता अनैतिकता का विचार बीच में आता ही नहीं था। यदि पाण्डवों द्वारा व्यवहृत बहुपति प्रथा को पवित्र धार्मिक पुस्तकों ने भी बुरा नहीं माना तो किन्नौरों की अकेली बात नहीं है कई अन्य इलाकों और देशों में भी यह प्रथा रही है और इसे चरित्रहीनता नहीं समझा जाता था। यदि पाण्डवों की एकमात्र व्याहता पत्नी पांच पतियों को छोड़ किसी और पुरुष को बुरी नज़र से नहीं देखती थी और वह पतिव्रता मानी जाती है और धर्मपत्नी कहलाती है तो बहुपति वाली ऐसी ही चरित्रवान किन्नौरी महिला भी पूर्णतः आदरणीय मानी जाती रही है, परन्तु यदि

समाज में दिखावे के लिए एक स्त्री एक ही पति से ब्याह रचती है जब कि व्यवहार में वह अन्य एक भी पुरूष से अनुचित सम्बन्ध रखती है तो वह चरित्रहीन गिनी जाती रही है। परन्तु अब बहुपति प्रथा अपने आप तेजो से घटती जा रही है और किसी उपदेश या कानून की आवश्यकता इसके निवारण के लिए नहीं है। लाहौल जैसे इलाकों में तो अभी तक लोग इतने सम्भले हुए नहीं है कि इस प्रथा के टूटते जा रहे होने पर भी कुटुम्भों में आर्थिक विघटन बहुत कम है, परन्तु किन्नौर में इस एक दिशा में तो लोग अपने लाहौल वाले भाई-बहनों के मुकाबले में बहुत ही कम दूरदर्शक निकले हैं। धड़ाधड़ विभाजन होता जा रहा है जिसका बहुदा बड़ा सोचनीय आर्थिक कुप्रभाव विभाजित कुटुम्भों पर पड़ रहा है।

मदिरा पान :- कहते हैं कि सोमरस भी एक प्रकार की शराब ही हुआ करती थी यद्यपि अत्यन्त गुणकारी। द्राक्षासव की कथा भी ऐसी ही है। आदि किन्दर मालूम नहीं सोमरस पीता था या द्राक्षासव या कोई इसी प्रकार की कम नशे वाली लाभदायक मदिरा का पान करता था। परन्तु ऐतिहासिक किन्नौरा तो अच्छी तगड़ी वस्तु पीता रहा है चाहे वह अंगूर से आसवित विख्यात 'अंगूरी' हो चाहे अन्य फलों की शराब हो चाहे अन्न की शराब। देवी-देवताओं की पूजा में भी ज़रा सी शराब का प्रयोग परम्परा से चला आया है। खराबी यह है कि अब शराब का इस्तेमाल उत्तरौतर अधिक होता जा रहा है और कम आयु वाले भी इस पर उतरते आ रहे हैं। महिलाओं ने अभी तक सराहनीय सयंम से काम लिया है और आज भी वह किन्नौरी महिला जो शराब पीती है, और जिसे ढूंढने के लिए चिराग चाहिए, तिरस्कृत समझी जाती है। आदिवासियों में मदिरा-पान की कमजोरी शायद विश्वव्यापी है। कुछ आदिम जातियों में तो महिलाएं भी बची हुई नहीं है।

मांस आहार :- व्यक्तिगत अरूची से मदिरापान से मुक्त व्यक्ति तो अब भी बहुत मिलते हैं, परन्तु ऐसे ही प्रेरित शाकाहारी अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं। अब कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव का फल है कि सयम से मांस छोड़ चुके लोगों की संख्या कुछ बढ़ती जा रही है। इस

दिशा में लामाओं वाले बुद्धमत को भी अच्छा श्रेय जाता है। अब तो कही-कहीं देवी देवताओं की पूजा में पशुबलि भी वर्जित हो गई है।

धर्म :-साँस्कृतिक मान्यताओं पर धार्मिक मान्यताओं की छाप विश्वभर में ऐतिहासिक है। किन्नौर में एक मिश्रण है। तीन धार्मिक विश्वासों का। एक तो परम्परागत देवी देवताओं में विश्वास का, दूसरे उच्च प्रकार वाले हिन्दू धर्म का और तीसरे लामाओं वाले बौद्धमत का। जियो और जीने दो वाला सहनशीलता तथा सद्‌भावना पूर्ण व्यवहार इस स्थिति की विशेषता रही है। देवी देवता कुछ तो पौराणिक हिन्दूमत वाले ही हैं, जैसे नाग, नारायण, महादेव, महेश्वर, दुर्गा, चण्डिका, उषा, चित्रलेखा आदि-आदि, बहुत कुछ और भी है, जैसे परका, औमंग, टेरैस आदि और कुछ अपभ्रंश नाम, जैसे गन्दर्भ का गन्दरापैस, कंसराज का कसुराज़स, महाशिव का महासू वगैरा और कुछ तिब्बती नाम भी हैं, उदाहरणार्थ डवला, दुग्मां, छकोलंग, ज्ञाग्मा-शुम, दयोदुम आदि। फिर भूतों-प्रेतों आदि की अपनी बिरादरी है। ये देवी देवताओं और साथ लगे भूतों-प्रेतों आदि का जगत एक अच्छा खासा विषय एक पूरी किताब के लिए मौजूद है। पुराने गीतों से संकेत मिलता है कि किसी समय नरवलि तक की बली प्रथा प्रचलित रही होगी लेकिन पिछले अनेक पुश्तों से भेड़-बकरी वली ही प्रचलित रही है और अब तो कहीं-कहीं तिब्बती बुद्धमत के प्रभावाधीन यह बली भी छोड़ी जा रही है।

गांव का मुख्य ईष्ट देवता केवल पूजनार्थ ही पूज्य नहीं होता बल्कि वह व्यक्तियों का उपचारक, वाद-विवादों में निर्णायक, नाना प्रकार के प्रयोजनों के लिए भविष्य सूचक, कई प्रकार के शुभ कार्यों के लिए दिन लगन का निर्माता चोरी-चकारी जैसी घटनाओं में दोषी का दर्शाता आदि-आदि अनेक अभिप्रायों के लिए भी पूजनीय तथा श्रद्धेय चला आया है। यह ठीक है कि अब देवी-देवताओं की पकड़-जकड़ और उनके प्रभाव तथा अधिकार में ढील और कमी बढ़ती जा रही है लेकिन साथ ही यह भी एक रोचक पहलू है कि पिछले कुछ ही वर्षों में

कहीं-कहीं अतिरिक्त ग्रांम देवता भी प्रकट हुए हैं, मानो एक काफी नहीं था।

रामायण, महाभारत, गीता जैसे हिन्दू धर्म के माने हुए ग्रन्थों का पठन-पाठन साथ चलता है और, कुछ वर्षों में इससे भी कुछ अधिक और कम मात्रा में पुरातन, पढ़ना-पढ़ाना तिब्बती ग्रन्थों का भी सहगामी चला आया है। तिब्बती ग्रन्थों को समझने वाले और समझाने वाले तो कम ही है केवल पाठ के मातम्य के श्रद्धालु जो अर्थ समझे बिना भी पूर्ण श्रद्धापूर्वक पाठ करते हैं, अधिकांश मिलते हैं। किन्नौर में ब्राह्मण कभी कोई नहीं बसा। कुछ लोग सराहन के निकट-वर्ती ग्राम रावीं आदि ग्रामों से ब्राह्मण लोगों को संस्कार सम्बन्धि कार्यों या यज्ञ पूजन जैसे प्रयोजनों के लिए कभी-कभार लाया करते हैं अन्यथा देवी देवताओं और अब कुछ वर्षो से उत्तरोत्तर लामा-ज़ोमों लोगों की सहायता से ही जन्म-मरण, विवाह, नामकरण आदि काम चलाए जाते हैं। दो चार जगहों में ऐसे स्थानीय किन्नौरे भी हैं जो पूजा-पाठ आदि में ब्राह्म्णों वाली विद्या भी किंचित मात्रा में जानते हैं और लोग उनसे भी लाभ उठाते हैं। अब कुछ वर्षो से पंजाब के ब्यासा डेरा वाले राधास्वामी मत सरीखे मतों के भी कुछ श्रद्धालु हो गए हैं। नई शिक्षा प्रणाली में हिन्दी का प्रचार व्यापक होता जा रहा है और हिन्दी में धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन बढ़ता चला जाएगा। पुनर्जन्म तथा कर्मफल के सिद्धान्तों में श्रद्धा अभी सर्व-साधारण में उपस्थित है और जब तक यह श्रद्धा प्रबल रहेगी व्यावसायिक धर्म की जान अर्थात नैतिकता सुरक्षित रहेगी। आधुनिक शिक्षा का प्रभाव नई पौधों पर धार्मिक दृष्टी कोण से यहां भी वही है जो देश भर में है।

जन्म संस्कार :- जिस घर में कोई सन्तान जन्में तो 15 दिनों की अवधि में वह घर तथा उस घर वाले किंचित अपवित्र से गिने जाते हैं और वह लोग देवी-देवताओं के मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक पवित्रता वाले स्थानों में नहीं जाते हैं। अवधि के पूर्ण होने पर लामा द्वारा या संस्कार सम्बन्धि जानकारी रखने वाले किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कुछ

रस्म अदा करने के पश्चात वह अपवित्रता समाप्त गिनी जाती है। इसी परिवार के अन्दर ऐसे बच्चे की माता इन 15 दिनों में विशेषत: इस अपवित्रता का केन्द्र समझी जाती है। लगभग एक वर्ष पूरा होने पर बच्चे के बाल काटे जाते हैं। हैसियत वाले कुछ समारोह से और अधिकांश चुपचाप जनेऊ धारण करने की प्रथा नहीं है।

विवाह :- बहुपति प्रथा के बारे ऊपर जिक्र आ चुका है। एक से अधिक पत्नियों का आम रिवाज तो नहीं है लेकिन कोई पुरूष एक साथ एक से अधिक पत्नियां रखे तो बात असाधारण होते हुए भी निन्दनीय नहीं गिनी जाती है। साधारणत: लड़के वाले लड़की की तलाश में निकलते हैं और लड़की के माता-पिता तथा अन्य कुछ रिश्तेदारों की रजामन्दी से रिश्ता तय होता है। लड़की वाले आमतौर पर स्वीकृति प्रकट करने से पूर्व स्थानीय देवता अथवा लामा अथवा दोनों(जहां लामा भी हो और देवता तो होता ही है)से परामर्श कर लेते हैं। स्वीकृति होने पर देवता या लामा अथवा दोनों को भेंट के साथ रस्म अदा की जाती हैं। निश्चित दिवस पर, जो दिवस हो देवता अथवा लामा से पूछकर निर्धारित होता है, वर थोड़े से साथियों सहित दुल्हन के घर जाता है और निर्धारित दिवस पर वह दुल्हन लेकर अपने घर लौटता है और साथ में बारात आती है। इस प्रथा में विशेषता यह है कि दुल्हा बारात लेकर नहीं जाता बल्कि दुल्हन बारात लेकर आती है नाते की बातचीत करने वालों में एक या दो व्यक्ति जो बिचौले कहे जाते हैं, विशेष महत्व रखते हैंऔर वह जीवन भर एक प्रकार से दुल्हन के भाई धन जाते हैं। विवाह की रस्मों मे वर का पगड़ी पहचाना सांकेतिक दृष्टिकोण से केन्द्रीय महत्व रखता है, अर्थात पगड़ी पहनने पर पति-पत्नी का नाता सम्पन्न समझा जाता है। दहेज की प्रथा नहीं है। अब कुछ अधिक धन वाले परम्परागत जेवरों और कपड़ों के अतिरिक्त कुछ और भी कीमती उपहार लड़की के साथ देने लग गए हैं लेकिन अभी से इस बारे में चर्चा चल पड़ी है कि इस नई प्रथा को काबू के अन्दर रखा जाए अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि विवाह इतने खर्चीले हो जाए कि सर्व-साधारण कर्जों में डुबने लग जाए हां, पुरातन परम्परा से दो रिवाज चले आए हैं जो

पारस्पारिक सहयोग तथा सहकारिता के द्योतक हैं । तएक तो वधू के प्रवेश के पश्चात उसी दिन या अगले दिन दुल्हा के नाते रिश्तेदार नकद तथा कपड़ा आदि के रूप में भेंट चढ़ाते हैं जो कि दुल्हा के परिवार के नाम जाती है और 'बैल्डिंग' कहलाती है । इस प्रकार दुल्हा के माता-पिता को पारस्पारिक बरत-बर्त्ताव के आधार पर विवाह के खर्च में सहायता मिलती है । दूसरे जिस दिन दुल्हन के साथ आए बाराती तथा अन्य नाते-रिश्तेदार लौटते हैं तो वधू न्योज़ा अखरोट, बादाम आदि की गिरियों या फूलों की मालाएं पहनाती जाती है और प्रत्येक बाराती या अन्य रिश्तेदार नकदी या कपड़े आदि के रूप में भेंट चढ़ाता जाता है जो सबकी दुल्हन की निजी सम्पति शुमार होती है और 'उदानंग' पुकारी जाती है । 'उदानंग' का लफ़्ज़ी मतलब बनता है पुष्पदान । शायद यह नाम इस कारण पड़ा हो कि दुल्हन आदर की भावना से पुष्प मालाएं पहनाती है और सद्भावना सहित उत्तर के रूप में माला पहनाया जाने वाला रिश्तेदार अपनी भेंट पेश करता है । यह भी परम्पर लेददेन के आधार पर होता है । और 'बैल्डिंग' तथा 'उदानंग' दोनों का लिखित व्योरा रखा जाता है ।

युवक तथा युवती में पहले ही परस्पर प्रेम होने के फलस्वरूप भी विवाह होता है, परन्तु दोनों ओर माता-पिता तथा अन्य कुछ रिश्तेदारों की स्वीकृति विवाह से पूर्व ली जाया करती है ।

''दारोश' 'हबमिग' 'खुचमिग' आदि नाम से जो विवाह होता है वह एक प्रकार की ज़बरदस्ती की शादी होती है । लड़की को अचानक लड़के वाले पकड़कर और घसीटकर भगा ले जाते हैं । परन्तु तत्पश्चात शीघ्र ही लड़के बाले लड़की वालों की सेवा में उपस्थित होते हैं और लड़की वालों को मना लिया जाता है और फिर छोटे या बड़े रिवाज़ से विवाह रचा जाता है । लड़की वाले राजी न हुए तो विवाह सम्पन्न नहीं होता ।

ऊपर केवल मोटे-मोटे और मुख्य रूप से प्रचलित बातें लिखी गई हैं, बारीकी से पूरे समारोह तथा सभी रीति रिवाजों और जो कुछ

पृथक–पृथक स्थानीय विशेषताएं हैं उन सभी के उल्लेख के लिए न यह अवसर है और न ही समय पर्याप्त है। सभी कुछ के वर्णन के लिए पुस्तक नहीं तो पुस्तिका अवश्य बनेगी।

विधवा विवाह का रिवाज है और कोई विधवा विवाह को बुरा नहीं मानता है।यदि पति–पत्नी में अनबन हो जाए या सन्तान न होने के कारण विवाह बिच्छेद तक बात चली जाए तो साधारणत: परस्पर बातचीत करके दोनों तरफ के रिश्तेदार ही मामला निपटा देते हैं और आमतौर पर पति–पत्नी एक लकड़ी को एक एक सिरे से और दूसरा दूसरे से पकड़कर और तोड़कर सम्बन्ध विच्छेद की क्रिया स्पष्ट करते हैं और आवश्यकता समझी जाए तो लिखित रूप में भी पृथक-करण पक्का करते हैं। यदि पति तलाक के लिए तैयार नहीं होता है और न रिश्तेदारों की सुने तथा न ही दोनों ओर से नियुक्त पंचों द्वारा विषय निपटाने पर रज़ामन्द हो और बल्कि अपनी ज़िद पर अड़ा रहे तो पत्नी वाले चाहें तो शायद अदालत तक जा तो सकते होंगे लेकिन आमतौर पर ऐसा होता नहीं है। कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई हो और मामला सरकारी अदालत तक गया हो, ऐसा दृष्टान्त अभी तक मालूम नहीं हुआ है। हां, यदि ऐसी स्थिति में स्त्री किसी अन्य पुरूष से विवाह कर लें तो वह जुरम नहीं समझा जाता अर्थात उसे भारतीय दण्ड संहिता के अधीन कोई भी दण्डनीय दोष नहीं माना जाता है। यह स्थापित रिवाज है। और रीति रिवाज तथा परम्परा के अधीन फिर मामला यूं समाप्त किया जाता है कि दोनों ओर के समझदार रिस्तेदार या पंच बैठकर हिसाब किताब चुकता कर देते हैं और उनके निर्णय अनुसार नये पति को अथवा स्त्री के मायके वालों को अदायगी करनी पड़ जाती है। पति तलाक चाहता हो और पत्नी नहीं माने तो भी आमतौर पर दोनों ओर के जाने माने सम्बन्धि अथवा पंच विषय निपटा देते हैं अथवा पत्नी को गुज़ारा के लिए अदालत तक जाना होता है। अदालत का दरवाजा कम ही खटखटाया जाता है। अभी तक लोगों में, दोनों ओर इतनी सज्जनता और भलमनसाहत है कि अपनी शराफत से नहीं तो समझदार रिश्तेदारों के समझाने बुझाने पर अदालत से बाहर ही झगड़ा निपटा लिया जाता है। यदि पति-पत्नी

अनबन के कारण पृथक रह रहे हों और पत्नी विवाह विच्छेद चाहती हो परन्तु पति सहमत न हो रहा हो तो पत्नी वाले रिवाज के अनुसार जेवर लौटा दें और हिसाब किताब चुका दें तो विवाह विच्छेद सम्पूर्ण समझा जाता है। इस प्रक्रिया में समाज की पंचायत में वह बिचौले भी, सभी या उनमें से कोई, अवश्य सम्मिलित होते हैं जो विवाह के लिए भी बिचौले अर्थात बीच के व्यक्ति रहे हैं।

मृत्यु संस्कार :—मृत्यु के पश्चात भी परम्परागत क्रिया-करम से पूर्व और साधारणतः 15 दिनों के लिए अपवित्रता वाली प्रथा चलती है। शव को दफ्न करने वाली प्रथा नहीं है और दाह ही परम्परागत प्रथा है, सिवाए बहुत छोटे बच्चों के या किसी छूत वाली बीमारी से मृत व्यक्ति के, जिन विशेष अवस्थाओं में शव को दफ्न किया जाता है। तिब्बत में शव से क्या सलूक किया जाए, इस बारे भी लामा के मत का पालन किया जाता है और कभी-कभी लामा का परामर्श यह भी हुआ करता है कि शव को पशु-पक्षियों द्वारा खाए जाने के लिए खुला फेंक दिया जाए. परन्तु तिब्बत से सीमावर्ती किन्नौर के ग्रामीणों में अभी तक ऐसी प्रथा नहीं गई है, यद्यपि जन्म-मरण, क्रिया-करमों के सम्बन्ध में लामाओं से परामर्श होता ही रहता है। मृत्यु सम्बन्धी रीति रिवाज के विस्तृत वर्णन के लिए जितना समय तथा कागज़ चाहिए उतना इस आज के अवसर पर उपलब्ध नहीं है। अस्थियों को हरिद्वार पहुंचाने की प्रथा पुरानी लेकिन व्यापक नहीं है। कहीं-कहीं सतलुज तथा समीप के किसी नदी के संगम को भी तीर्थ माना जाकर अस्थियां वहीं जल प्रवाह की जाती हैं।



महा सिद्धाचार्य गुरु घण्टा–पाद की तपोभूमि लाहुल

के० अंगरूप लाहुली

हिमाचल प्रदेश में लाहुल एक छोटी सी घाटी का नाम है जिस की वर्तमान जनसंख्या लगभग 23 हजार है और इस का क्षेत्रफल 1764 वर्ग मील है। इस क्षेत्र में अधिकतर बौद्ध शेष हिन्दू धर्म के अनुयायी रहते हैं। प्राचीन भोट साहित्य में इस क्षेत्र की बड़ी महिमा गायी गई है धर्मशास्त्रों में लाहुल को डाकिणियों का द्वीप कहा गया है। इस घाटी में विद्यमान गुरु घण्टार (लाहुल के प्राचीनतम बौद्ध बिहार) को बज्रासन (= बुद्ध गया के महाबोधि मन्दिर) को समकक्ष और घण्टा–गिरी नामक पर्वत की त्रैकालिक बौद्धों के द्वारा अधिष्ठित स्थान बताया गया है। तिब्बत के कर्ग्युद–पा सम्प्रदाय के डि–गुङ–पा शाखा के संस्थापक क्यों–पा, जिग्–तेन–गोन्–पा जिनका समय 1143–1217 समझा जाता है । लाहुल के खाके एवं महत्व का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि यहां से (उनका तात्पर्य सम्भवतः डि–गुङ थिल, जङ–तंगयान के पवित्र ग्रन्थों में निम्नांकित 24 पवित्र तीर्थस्थानों की बड़ी महिमा गायी गई है । इन स्थानों का किसी न किसी डाकिणी या योगिनी से सम्बन्ध है अतः साधकों के लिये ये बड़े पवित्र तीर्थस्थान माने गये हैं । इन के नाम क्रमशः निम्न प्रकार है :—

1. पुल्लीराम 2. जालंधर 3. ओडिबिश 4. दोदावरी 5. अर्बुत 6. रमेश्वर 7. देवीकोट 8, मालबर 9. कामरुप 10. ओत्रे 11. त्रिशंकु 12. कोसल 13. कलिंग 14. लमान 15. कांची 16. हिमालय 17. प्रेतपुरी 18. गृहदेव 19. सौराष्ट्र 20. स्वर्णद्वीप 21. श्रीनगर 22. सिन्धु 23. मारुत 24. कुलुत ।

छुब-किग् नामक बिहार से था क्योंकि वे अधिकतर वहीं रह कर साहित्यक एवं धार्मिक कार्य करते रहे हैं अस्ताचल की ओर जायें तो (24 पवित्र स्थलों में की) मूर्धा अर्थात् प्रधान स्थल जालंधर के उत्तरी और गर-ज (=लाहुल) नामक डाकिणियों का तीर्थस्थल है। यह एक अद्वितीय एवं विशिष्ट तीर्थ है। इस घाटी का उत्तरी भाग पूर्व की ओर उन्मुख है और अपर भाग पश्चिम (दिशा) अभिमुख है। घाटी के ऊपरी भाग से दो हिस्से और अपर भाग का हिस्सा है, इन तीन हिस्सों से बनी घाटी के मध्य युशनद्ध महा माध्यमिकी कुल के अद्वितीय यानी कालचक्र के देवगणों का निवास है। उसके पृष्ठ की ओर धर्मक्षकार प्रतिष्ठित है। उसके भी पीछे डाकिणियों का गुहय परिक्रमा मार्ग है। उस परिक्रमा मार्ग से क्रमशः- (मार्ग) बढ़ने पर देवी देवताओं की मूर्तियां और हथियार विद्यमान हैं। प्रज्ञा और उपाय (रूपी) वारि, वरप्रद जलस्रोत, अमृतमय आप तथा अष्टांगी नीर और आलि--कवलि आदि वर्ण माला स्वयंभूत हैं। भाग्यवान् कुल पुत्रों को चाहिये कि (वे) वहां जा कर उस महान् तीर्थ का दर्शन करें।[1] आचार्य क्यो-पा, जिग्-तेन्-पोन्पो के अतिरिक्त आचार्य पद्म संभव (8वीं शती), लामा मर-पा (1077 ई०) तथा ग्यल-वा, गोद-छ्ङ-बा (1189-1258 ई०) आदि विद्वानों और सिद्धों ने भी लाहुल का डाकिणियों का निवास स्थान एवं पवित्र भूमि घोषित किया है। आचार्य जिग्-तेन-गोन्पो आगे लिखते हैं कि कोई भी भक्त अति पवित्र एवं शुची मन से लाहुल के तीर्थाटन के लिए उद्यत होकर यदि सात कदम भी उस दिशा को बढ़ाता है तो उसे उस पुण्य बल से तीन जन्मों तक नरक गामी नहीं होना पड़ेगा। वही वजह थी कि प्राचीन समय में सुदूर तिब्बत के दुर्गम प्रदेशों से भी बौद्ध यात्री लाहुल के तीर्थाटन के लिये आते थे। आज परिस्थिति वश तिब्बत से तो नहीं परन्तु सीमावर्ती प्रदेश लद्दाख, जंस्कार, स्पिति तथा किन्नौर से प्रतिवर्ष सैंकड़ों की तदाद में लोग लाहुल एवं लाहुल के तीर्थ स्थानों के दर्शनार्थ आते हैं। ग्यल-वा, गोद-छ्ङ-बा जिन्हें महा योगी मिला-रस-पा (1040-

1. डिल-बु-री-यी, नस-श्द, क्यो-पा, जिग-तेन-गोन्पो, पृष्ट 9-10
2. डि-बु-री-यी, नस-श्द, पृष्ठ 11-ख

1123) का अवतार समझा जाता है, और उनका जन्म तिब्बत के ल्हो–डंग, दुल-बु–छुड नामक एक गांव में हुआ था । लाहुल की महिमा को सुनकर उन्होंने इस क्षेत्र की यात्रा की थी । इस प्रकार वे 1204–8 ई० के आस–पास लाहुल आकर सिल–ला नामक पर्वत की एक गुफा में रह कर तप-साधना करने लगे थे । कभी वे गुरु घण्टा-पाद द्वारा प्रतिष्ठित ओद्–सल–बज्र –फुग् (=आभास्वर बज्र कन्दरा) नामक गुफा में भी जाकर रहते थे । संभवत: आचार्य गुरु घण्टा–पाद ने इसी गुफा में साधना करके आभास्वर ध्यान को प्राप्त कर लिया था । इस प्रकार उस तपोफल की स्मृति में गुफा का नाम भी ओदसल-बज्र–फुग् रख दिया गया हो । वह आभास्वर कन्दरा आज भी लोगों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है । इसमें तो शक नहीं कि ग्यलया, गोद–छड–बा को लाहुल में साधना करते कोई दैविक शक्ति प्राप्त हो गई थी और उन्होंने इसका कई अवसरों पर प्रदर्शन भी किया था । लाहुल का एक गांव जिसका नाम कार–दंग् है, के मध्य ज–बेस् नामक एक बौद्ध बिहार है, जिस में एक बड़ा गोल पत्थर प्रदर्शित है । पत्थर पर मानव के दो घुटनों का चिन्ह बना हुआ है । कहते हैं कि एक बार गोद्–छड-बा ने अपनी ऋद्धि प्रदर्शन के समय उस पत्थर पर अपने दोनों घुटनों को इस प्रकार धंसा दिया था मानों कि वह पत्थर कोई मक्खन का पिण्ड हो । ऋद्धि के द्वारा किसी पत्थर या पदार्थ पर अंकित चिन्ह को भोट–भाषा में जबस -जैस (= पाद चिन्ह) कहते हैं । उपर्युक्त बिहार का नाम भी उसी जबस–जैस युक्त पत्थर की स्थापना से प्रसिद्ध हुआ है । ज–बेस, जबेस्–जैस का अपभ्रंश रूप है । आज इस ज–बेस नामक बिहार में दर्शनार्थियों के लिये मुख्य आकर्षक वस्तु गोद्-छड़–बा के घुटनों से चिन्हित वही गोल पत्थर है । यूं इस बिहार में गोद–छड–बा की एक छोटी सी प्रतिमा भी रखी हुई है ।

ग्यल–वा, गोद् छड–बा के लाहुल आकर तप करने का दूसरा अभिप्राय: यह भी हो सकता है कि वे स्वयं कर्युद–पा सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कर्युद्–पा का इष्ट देव चक्रसंवर हैं । चक्रसवर का तीर्थ स्थान यहां का प्रसिद्ध डिल–बु–री अर्थात् घण्टा–गिरि नामक पहाड़ है । इस प्रकार वे इष्ट देव के सैनिक रह कर तप–साधना

करना चाहते थे । जिस से कि वे अपने साध्य को यथाशीघ्र प्राप्त कर सके क्योपा, जिग् तेन–गोन्पो ने लिखा है कि लाहुल की पवित्र भूमि एक महान कल्पद्रुम के समान है। यहां रह कर तप–साधना करने वाले अभ्यार्थियों की तमाम मनोकामना पूरी हो जाती है ।

गोद्–छुङ बा सेर्व पू पश्चिम तिब्बत के गुगे निवासी लो–चा–वा (= दुभाषी) रिन चेन–जङ–पो (रत्न भद्र 958-1055 ई०) 18 वर्ष की अवस्था में विद्या अध्ययनार्थ काश्मीर जाते समय किन्नौर होते हुये लाहुल के रास्ते काश्मीर गये थे । उस समय एक तो उनका छात्र जीवन था दूसरा उन्हें लाहुल में अधिक दिन तक ठहरने का मौका भी नहीं मिला था । अतः उन्होंने लाहुल के विषय में कोई चर्चा नहीं की है। दस वर्ष तक अध्ययनरत रहने के पश्चात् जब वे एक बार स्वदेश लौट कर धर्म प्रचार में लग गये तो उन्होंने विभिन्न स्थानों में सैंकड़ों बिहार और स्तूप बनवाये थे । उस समय वे पुनः लाहुल पहुंचे उन्होंने जो-लिंग व संभवतः गुम–रंग नामक गांव में भी एक मंदिर स्थापित किया था तथा उन में स्पिति के प्रसिद्ध ता–बो (ता–फो) विहार और लद्दाख के जल–चो छोस् खोर, नामक विहारों की भांति प्रस्तर से निर्मित सङ-ग्यस्-नम-पर-नङ-जद (वैरोचन बुद्ध) तथा अन्य बौद्ध देवी –देवताओं की प्रतिमायें प्रतिष्ठित की थीं । इस समय व्यवस्थाओं के अभाव में इन ऐतिहासिक बिहारों से बहुत सी मूल्यवान मूर्तियां या तो चोरी चली गई हैं और या नष्ट। कुछ को गुरू घण्टा–पाद के महा बिहार में स्थानान्तरित कर गया है ।

बौद्ध जात के अन्य यात्रियों की भांति प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने भी अपने भारत–वर्ष के भ्रमण काल (सन्629-645) में लाहुल की यात्रा की थीं । यह बात उन्होंने अपनी 'भारत भ्रमण वृतान्त नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से लिखी है । परन्तु लाहुल के विषय में उन्होंने एक भी शब्द लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, जबकि उस समय महा सिद्धाचार्य गुरु घण्टा-पाद लाहुल में रह रहे थे यद्यपि सिद्धों के विषय में काल निर्णय कर उन्हें इतिहास की परिधि में बांधना कठिन ही नहीं अपितु हास्यास्पद सा भी लगता है, परन्तु अब तक उपलब्ध तथ्यों के आधार पर गुरु घण्टा–पाद का समय 7 वीं शताब्दी के आस–पास है, और उस समय वे लाहुल रह कर साधना कर

रहे थे ।

(1) गुरु घण्टा-पाद के सम्बन्ध में विद्वानों का निर्णय :-

1- लामा तारा नाथ के अनुसार डोम्मी हेरुक, सिद्ध घण्टा-पाद और सर्वज्ञमित्र समकालीन थे। सर्वज्ञमित्र रविगुप्त का शिष्य था। भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, मूल तिब्बती- पृष्ठ 159

2- उपर्युक्त इतिहास का हिन्दी अनुवादक रिग-जिन-लुण्डुब-लामा के अनुसार रविगुप्त का समय 725 ई० सम्बत है। भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृष्ठ 92

3- गे० खस-चुन-जङ-पो के मत में डोम्मी हेरुक का समय 5वीं शताब्दी है। भारतीय पण्डितों की जीवनी, पृष्ठ 420

4- बु-तोन-क-बुम'छ' से वज्र घण्टा-पाद को जीवनी का उद्धृत कर्ता गे० खस-चुन-जङ-पो के मत में घण्टा-पाद का समय 5वीं शती है। वही, पृष्ठ 388

5- पद-कर के इतिहास में काल निर्धारण नहीं है।

6- गे-शे, खस-डुब, प्रो० के०उ०शि० सं० सारनाथ, चौरासी सिद्धों की नामावली (शोध पत्र) पृष्ठ 5 में डुब-थब-कुन-तुस का मत उद्धघृत कर बज्र घण्टा-पाद को राजा देवपाल (809-41 ई०) समकालीन बताया है।

यद्यपि यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि लाहुल में 7वीं शताब्दी के आस-पास तपोनिष्ठ रहने वाले लामा डिल-बु-पा अर्थात् गुरू घण्टा-पाद वही थे जो पूर्व भारत के बारेन्द्र जनपद (पद-कर का इतिहास पृष्ठ 78-79) के राज कुमार जिन्होंने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् इस संसार का अनित्य, दुःख एवं अनात्म जानकर, नालन्दा महाबिहार में आकर उपाध्याय जयदेव सुभद्र से प्रव्रज्य ग्रहण किया था और तत्पश्चात् महायान बौद्ध धर्म में दीक्षित हो कर साधना में लग गये थे परन्तु इतना तो सही है कि वारेन्द्र जनपद से प्रव्रजित राज-कुमार, भिक्षु दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उपाध्याय ने जिसका नाम मतिसार श्री रख दिया था, वह मतिसार श्री भिक्षु जन कल्याण के लिये सभी प्रदेशों और जनपदों का परिभ्रमण किया करते थे।

इस प्रकार संभवत: वह वारेन्द्र जनपदीय राज कुमार अर्थात् भिक्षु मतिसार श्री बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय तथा लोकानुकम्पाय की भावना से प्रेरित एवं दयार्द्र हो कर लाहुल भी जा पहुंचे हों, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि गुरू घण्टा-पाद के जीवन वृत के विभिन्न पहुलओं से भी तो यह पता चलता है कि वे बड़े घुमक्कड़ थे। गुरू दारिका–पाद ने उन की शिष्यत्व स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने सर्व प्रथम महायान की दीक्षा प्रदान करते हुये श्रीचक्र संवर के अभि–षेक से अभिषिक्त किया था। तत्पश्चात् किसी निर्जन स्थान में जाकर तप और साधना करने का निर्देश दिया था। भिक्षुमति सार श्री बंगाल के किसी जंगल में जा कर साधना में लीन हो गए थे, परन्तु उन्होंने शीघ्र ही आकाशवाणी सुनी कि भिक्षु मतिसार श्री को पश्चिम उड्डयान प्रदेश में जाकर तप–साधना करनी चाहिए। ऐसी अवस्थाओं में साधकों की परीक्षा होती है। अत: वे शीघ्र वहां से उठकर उड्डयान प्रदेश की ओर चल दिए। उड्डयान पहुंचने के पश्चात् कुछ दिनों तक वे इधर–उधर भटकते रहे। एक दिन उन्हें एक शूकर पालक महिला मिली, जो उनमतों की भांति फटे पुराने और चिथड़े वस्त्र पहन कर कभी तो रोती थी और कभी हंसती। भिक्षु मतिसार ने उसके रोने और फिर तुरन्त हंसने का कारण जानना चाहा तो वह बोली कि इस भद्र कल्प में तंत्रयान के प्रचार हो चुकने पर भी इसे अपनाने वाले पात्रों के अभाव को देखकर मैं रो और हंस रही हूं। भिक्षु मतिसार श्री के मन में ऐसा आभास हुआ कि यह कोई साधारण महिला नहीं बल्कि कोई धर्म डाकिणी होनी चाहिए। इस प्रकार वह विश्वस्त हो दण्डवत् प्रणाम करके अपना शिष्यतत्व ग्रहण करने की प्रार्थना की। उस महिला ने भी अपना असली रूप प्रकट कर दिया। वह कोई शूकर पालक नहीं बल्कि साक्षात् बज्रवराही योगिनी थी। योगिनी ने भिक्षु मतिसार श्री को श्रीचक्र संवर की दीक्षा देकर दक्षिण में ओडिविश (वर्तमान उड़ीसा) नामक प्रदेश में जाकर साधना करने की सलाह दी थी। उपर्युक्त घटनाओं से इस बात का पता चलता है कि गुरु घण्टा–पाद किसी एक स्थान में नहीं बल्कि विविध स्थानों में जाकर तप साधना किया करते थे और चारिका करते हुये धर्म प्रचार भी करते थे। इस प्रकार वे लाहुल भी पहुंच गए हों और वहां रह कर साधना में लग

गये हों ।

तिब्बत के नर-थङ संस्करण तन ग्युर, लु-30 के अनुसार आचार्य कम्बल-पाद ने कन्करम(मोन-डुब-शेस-रब् के अनुसार कङ करम) नामक प्रदेश के किसी राजा के यहां जन्म लिया था। बाद में अपनी माता की प्रेरणा से प्रव्रज्य ग्रहण कर साधना में लग गये थे।लामा तारा नाथ जिन का समय 1573 ई० है, उन की एक रचना के आंगल भाषान्तरकार श्री भूपेन्द्र दत्त के **Mystic teles of Lama Taranath** नामक पुस्तक के पृष्ठ 22 के अनुसार आचार्य कम्बल -पाद का जन्म उडडयान में हुआ था। उन्हीं के शब्दों में कुछ लोगों का कहना है कि वह ओडिविश का रहने वाला था। त्रिपिटक का अध्ययन समाप्त कर वह वहीं किसी मठ का मठाधीश नियुक्त हुआ था। एक बार वह वहां से पूर्व दिशा की ओर गया तो वहां पर उन्हें आचार्य घण्टा-पाद मिले। आचार्य ने उन को श्रीचक्र संवर मण्डल सहित अभिषिक्त किया था। नर-थङ, तन-ग्युर लु-30 के अनुसार कम्बल-पाद के जन्मस्थान कन्करम को यदि कांगड़ा(हि० प्र०) मान लिया जाये, जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है, तो ठीक उस की पूर्व दिशा में लाहुल क्षेत्र पड़ेगा। इससे आचार्य घण्टा-पाद के लाहुल में वर्तमान होने की स्थिति का स्पष्ट मान हो जाता है ।

इस बात की पुष्टी यहां की एक लोक कथा से भी हो जाती है। कहते हैं कि एक समय हिणुसार वर्तमान रे-पग (त्रिलोक नाथ) नामक गांव के किसी सामन्त ने सुना कि उनके गांव के ऊपर किसी घने जंगल में कोई महा सिद्धाचार्य साधना कर रहा है. और बड़े दिव्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले पुरुष हैं उस सामन्त यानि मुखिया ने अपना आदमी भेज कर साधनारत सिद्धाचार्य को अपने घर जाने के लिए न्योता भेजा, परन्तु आचार्य ने मुखिया का न्योता स्वीकार नहीं किया। दूसरी बार भी और तीसरी बार भी न्योता भेजा तो महासिद्धाचार्य ने मुखिया के लिए साफ शब्दों में कहला भेजा कि एक तो आप जैसे राज पुरूषों से मेरा कोई लेन-देन अथवा वास्ता नहीं है। दूसरी बात मेरे जैसे सन्त-सन्यासी विशेष कर एक भिक्षु को किसी अपरिचित घर-गृहस्थी के यहां व्यर्थ में जाना भी नियम और आचार विरुद्ध

है । इस प्रकार में आप के पास नहीं आ सकता ।

मुखिया सिद्धाचार्य के उत्तर को सुन कर अपने आप को बड़ा अपमानित अनुभव करने लगा और क्रोध के मारे आग बबूला हो गया । यद्यपि सिद्धाचार्य के संवाद में उनके अपमानित होने की कोई बात नहीं थी परन्तु राज शक्ति के मदांधों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी घटना प्रिय नहीं होती । इस पर मुखिया कहने लगा कि एक घुमन्तु भिक्षुक राज प्रासाद का निमंत्रण स्वीकार न करें, यह कैसी विडम्बना है । मैं इस हठी और दम्भी पुरूष से बदला लेकर ही रहूंगा । ऐसा कह उसने गांव को एक सुरा बेचने वाली स्त्री से सम्पर्क स्थापित किया । मुखिया स्त्री से कहने लगा कि प्रकृति ने तुम्हारी लड़की को सभी तरह की सुन्दरता लुटा दी है । उस में पुरुषों को विचलित करने की शक्ति विद्यमान है और साधु-सन्तों को उनके शील से च्युत करने का छल है । कल से लड़की को उस जंगल में भेजा करो जहां एक साधु साधना करता है, और उसे छला कर उसका शील तोड़वाने की कोशिश कराओ इस कार्य के निमित्त राज्य की ओर से तुम्हें मुंह मांगा पुरस्कार मिलेगा । मुखिया की आज्ञा और अनुरोध मिश्रित बातों का वह कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकी । इस प्रकार दूसरे दिन से वह 14 बर्षीय कन्या को जंगल भेजने लगी और साथ में सिद्धाचार्य के लिए अच्छे-अच्छे पकवान तैयार कर भिजवाने लगी । आचार्य बीतराग थे अतः किसी स्त्री के सुलभ छल और सुन्दरता पर एक दम मोहित होने वाले नहीं थे तो भी वर्षों के सम्पर्क और विषय की निकटता से एक दिन वे विचलित हो उठे और कन्या को (वास्तव में वह भी धर्म डाकिणी थी) अपनी साधना के एक अंग के रूप में अपना लिया और उस से यौगिक प्रक्रिया की । समय बीतता गया, धीरे-धीरे उनसे दो सन्तानें उत्पन्न हुई । एक पुत्र और दूसरी पुत्री । सन्त के लिए भोजन वस्त्र की समस्या तो थी नहीं क्योंकि एक तो वे आत्मनिग्राही थे दूसरा वे अपने योगबल से भी सारी आवश्यकतायें जुटा लेते थे । इस प्रकार वे कभी भी नीचे गांव या कस्बे में नहीं उतरते थे ।

भिक्षु के शील भ्रष्ट होने की बात जब गांव के मुखिया ने सुनी तो वह फूला न समाया । अब क्या था उसने तुरन्त एक जन सभा का

आयोजन किया, और लोगों से कहा कि इस ऊपर जंगल में रहने वाले उस पाखण्डी साधु को यहां सभा के मध्य बुलाकर उसकी निन्दा और अपमान करना चाहते हैं। जब हम ने उसे राजभवन में आने के लिए न्योता भेजा था तो उसने यह कह कर हमारा निमंत्रण ठुकरा दिया था कि मेरे जैसे किसी साधु सन्यासी को विशेष कर भिक्षु को घर गृहस्थियों के यहां जाना नियम और आचार के विरुद्ध है। आज वह स्वयं हम से भी बदतर सन्यास के वेश में पत्नी के साथ जंगल में रह कर धर्माचार्य का आडम्बर रचा रहा है। इतना ही नहीं अब तो उसके दो-दो सन्तानें भी हैं। यह बिडम्बना नहीं तो और क्या है ? हम उसके कुकृत्य का यहां पर्दाफाश करना चाहते हैं। जब वह यहां आ जाए तो हम उस को सभा के मध्य बिठायेंगे। तब मैं उठकर उसकी निन्दा करते हुए ताली बजाऊंगा तो आप लोग सभी मेरा अनुकरण करते हुये तालियां बजाना, उस ढोंगी और पाखण्डी की निन्दा करना। यह कह कर मुखिया ने एक आदमी को उस जंगल में सिद्धाचार्य को बुलाने के लिए भेजा और यह भी कहला भेजा कि आज गांव के लोग आपके दर्शन करना चाहते हैं। अतः आप सपरिवार सभा में पधार कर जनता की मनोकामना पूरी करने का कष्ट करें। थोड़ी देर के पश्चात् सन्त महात्मा अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सभा स्थल पर पहुंच गए। सारी जनता निस्तब्ध बैठी सभा की कार्यवाही बड़ी व्यग्रता के साथ देख रही थी। इतने में मुखिया एक बड़े नाटकीय ढंग से उठा तथा महा सिद्धाचार्य और उनके परिवार की ओर अभिमुख होकर कहने लगा। यह विशाल जनसमूह आप के दर्शन के लिए नहीं अपितु आप के अनैतिक कर्मों की निन्दा करने के लिए एकत्र हुआ है। कभी आप अपने भिक्षुपन की दुहाई देते हुये हमारे श्रद्धापूर्वक दिये गये न्योते और निमंत्रण को तृण की भांति ठुकरा देते थे। आज आप की यह अवस्था हमें कुछ सोचने और बोलने के लिए विवश करती है। अब आप जनता को बतायें कि यह औरत और बच्चे आप के कौन और क्या लगते हैं ? इतना कहते हुए उसने एक ठहाके के साथ ताली बजाई तो पूरे जनसमूह ने भी तालियाँ बजा दीं। निन्दा के शब्द और तालियों की गड़गड़ाहट की आवाज से तराई गूंज उठी। महा सिद्धाचार्य बड़े इतमीनान से बैठे रहे।

कुछ क्षणों के पश्चात् दाहिने हाथ से पुत्र को पकड़ा तो वह बज्र के रूप में परिणत हो गया। बायें हाथ से पुत्री को पकड़ा तो वह घण्टी बन गई। पत्नी को अंकवारी में लेकर सब के देखते-देखते आकाश मार्ग से पूर्व को उड़कर दरिया चन्द्र और भागा के संगम के पार्श्व में अवस्थित पर्वत की चोटी पर उत्तर कर वहीं अन्तर्धान हो गये। दूसरे शब्दों में अपने इष्ट देव श्रीचक्र संवर के साथ एक रसता को प्राप्त कर गये। वह अभागा जन समूह एक टकी आकाश की ओर देखता रह गया। कोई-कोई कातर स्वरों में आवाजें लगाने लगे, परन्तु अब वहां पर उनके आर्त नाद सुनने वाला कोई नहीं रह गया था। सभी ने अपनी गलती महसूस की। पंछी उड़ चुका था। अब रोने, पछताने और गिड़गिड़ाने से भी कोई लाभ नहीं था।

उस घटना के पश्चात् उपर्युक्त पर्वत का नाम डिल-बु-री अर्थात घण्टा-गिरि पड़ा तो वह नाम अब तक अक्षुण्ण चला आ रहा है। डिल-बु-री घाटी गिरि या पर्वत। स्थानीय बोलियों में भी उपरोक्त डिल-बु-री शब्द प्रचलित है। परन्तु डिल-बु-री के गोद में स्थित इस प्रदेश के प्राचीनतम बौद्ध बिहार को यहां के पटन घाटी की बोली में 'गुरु घण्टार' कहते हैं। वास्तव में यही नाम प्राचीन और सार्थक लगता है। यूं गुरु घण्टार के लिये भोट साहित्य में 'गन्धोला' और इस क्षेत्र की अन्य भाषा-भाषी 'गन्धाला' कहते हैं। वास्तव में यह गन्धोला या गन्धाला, बुद्धकुटि का पर्यायवाची 'गन्धालय' शब्द का विकृत रूप है। घण्टा-गिरि डिल-बु-री और गुरु घण्टार का गन्धोला नाम सीमावर्ती तिब्बत से बौद्ध प्रचारकों के पहुंचने के पश्चात् प्रचलित हुआ होगा ऐसा लगता है, क्योंकि भोट साहित्य एवं भाषा की यह विशेषता है कि उसमें व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सटीक अनुवाद करने की क्षमता है। जबकि संसार की अन्य भाषाओं में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अनुवाद प्रायः नहीं होता और यदि होता भी है तो वह व्युत्पत्ति की दृष्टि से सही अनुवाद नहीं हो पाता है।

भोट शास्त्रों में अभिहित ने-जे-डिल-बुं-पा ब्रज घण्टा-पाद लो-पोन-डिल-बु-पा आचार्य घण्टा-पाद तथा लामा डिल-बु-पा गुरू घण्टा-पाद आदि सभी शब्द एक ही साधक के विभिन्न नाम हैं। बु-तोन और लामा तारानाथ आदि तिब्बत के कतिपय विद्वान

दने-जे-डिल-बु-पा । आचार्य अभय दत श्री रचित 'चौरासी सिद्धों का वृतान्त' नामक पुस्तक का भोट अनुवादक मोन-डुब-शेष रब आचार्य घण्टा-पाद और तिब्बत के परवर्ती लेखकों ने लामा डिल-ब-गा शब्द का प्रयोग किया है । इस प्रकार लामा डिल-बु-पा के जीवन वृत में भी एक रूपता नहीं है विभिन्न लेखकों और विद्वानों ने इन की जीवनी विविध-रूप से प्रस्तुत की है । बु-तोन और लामा तारा नाथ के अनुसार आचार्य घण्टा-पाद ने उड़ीसा के किसी राजा का निमन्त्रण ठुकराया था । मोन-डुब-शेष-रब के मतानुसार राजा देवपाल जो कामरुप (असम) बंगाल तथा सालिपुत्र (सभंवतः उड़ीसा का एक नगर) का अधिपति था, का न्योता अस्वीकारा था । लाहुल की लोक-कथा के अनुसार रे-पग (रस्-फग) नामक गांव के किसी सामन्त के घर जाने से इन्कार किया था ।

यह सही है कि अधिकतर लोक कथायें विश्वासों और रुढ़ियों पर आधारित होती हैं परन्तु ये बिल्कुल निर्मल होती हैं ऐसी बात नहीं है । इनके अन्तस्थल में एक सत्यता की झलक छिपी हुई होती है । गुरु घण्टा-पाद से सम्बन्धित इस लोक कथा में तो ऐतिहासिक महत्व की बातें निहित हैं । क्योंकि उपर्युक्त घटना क्रम के अनुसार लाहुल का एक उतुंग पर्वत जिसे श्रीचक्र संवर का तीर्थस्थान माना जाता है । उपर्युक्त घटना के पश्चात् उसका नाम डिल-बु-री (घण्टा-गिरि) पड़ा । उस गिरि के आंचल में स्थित बौद्ध बिहार जिसमें आचार्य पद्म संभव ने 8वीं शती में संगमरमर से निर्मित अवलोकतेश्वर के मस्तक के एक प्रतिरुप को स्थापित किया था , का नाम गुरु-घण्टार (गुरु घण्टा-पाद के बिहार शब्द का अंति अक्षर 'र' आगे के घण्टा शब्द से मिलकर संक्षेपयीकरण हो गया है) पड़ा । उस बिहार के आस-पास के भूभाग का घण्टार-वण (वन) आदि नाम आज भी प्रचलित है । यह सभी बातें उपर्युक्त लोक कथा की यथार्थता को प्रकट करती हैं । गुरु घण्टा-पाद जिस जंगल में रहकर साधना करते थे, वह जंगल और जिस मुखिया ने उन्हें अपमानित करने की कुचेष्टा की थी उसके वंशज आज भी मौजूद हैं । स्वतन्त्रता के पश्चात् यद्यपि उनके प्रशासनिक अथवा सरकारी हक छिन गये हैं, परन्तु गांव में उनका रोब-दाब आज भी वर्तमान है ।

जुलाई 1977 में जब मैं इस क्षेत्र का परिभ्रमण कर रहा था तो उपर्युक्त सामन्त के निछत्र राजपुरूष श्री अमर सिंह (अवस्था 73 वर्ष) से भेंट की थी। कद के लम्बे और व्यक्तित्व के धनी श्री अमर सिंह के चाल-ढाल से अभी भी राजत्व झलकता था।

क- कथा ही लोक अभिव्यक्ति की सर्वप्रथम वस्तु है। डा0 शंकर लाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, पृष्ठ 75

ख- प्राचीन आचार्यों ने कथा को दो भागों में विभक्त किया है। कथा और आख्यायिका। कथा उस कहानी को कहते हैं जो कवि कल्पना से प्रसूत होती हैं। परन्तु आख्यायिक का आधार ऐतिहासिक इतिवृत्त होता है। डा. कृष्ण देव उपाध्याय लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 128

एक ऐतिहासिक घटना :—

आदिवासी क्षेत्र लाहुल का अब तक कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। अतः उस क्षेत्र के अतीत की कतिपय स्मृतियों को हम केवल वहां के लोक-गीतों, लोक-गाथाओं तथा जनश्रुतियों के माध्यम से कुछ जान सकते हैं। क्योंकि लोक-गाथा आदि मौखिक साहित्य में स्थानीय इतिहास की सामग्री भी भरपूर रहती है। इस प्रकार इसके अनुशीलन से विलुप्त एवं विस्मृत इतिहास पर किंचित प्रकाश पड़ सकता है। निम्न लोक-गाथा लाहुल क्षेत्र के पटनवादी के झुण्ड नामक गांव का रहने वाला कैना माया राम का जीवन-वृत्त है। माया राम झुण्ड गांव का एक सम्मानित व्यक्ति था। यद्यपि उनका घर और परिवार बड़ा नहीं था, परन्तु वे स्वयं में हृदय के विशाल एवं एक सद्-चरित्र पुरुष थे। अतः गांव के लोग उनका बड़ा सम्मान करते थे। गांव की सारी व्यवस्था उनकी नीति और संकेत पर चलती थी। इस लिए प्रशासन की ओर से नियुक्त राज पुरुषों को माया राम का व्यक्तित्व और उनकी साख खलती थी। अतः उन विद्वेषी एवं छिद्रान्वेषी अधिकारियों ने धीरे-धीरे माया राम के विरुद्ध कुल्लू राज-दरबार और स्वयं राजा प्रीतम सिंह के कान भर दिए थे। फलस्वरूप राजा प्रीतम सिंह माया राम से क्रुद्ध हो गए और उन पर राज द्रोही का आरोप लगा कर उन्हें गर्मी के

दिनों (जब कुल्लू की भूमि आग की तरह तपने लगती है, उस समय) कुल्लू राज दरबार में उपस्थित होने के लिए परवाना जारी कर दिया। परवाना यानि आज्ञा-पत्र में कौन-कौन सी बातें लिखी थीं, यह तो प्रस्तुत लोक-गाथा से बहुत स्पष्ट नहीं होती, परन्तु उस राज-आज्ञा को प्राप्त करने के पश्चात् माया राम ने जो दौड़-धूप की, उस से प्रतीत होता है कि राज-आज्ञा में निस्सन्देह उनके विरुद्ध भयंकर आरोप था। इसी लिए स्वाभिमानी माया राम ने कुल्लू राज-दरबार में उपस्थित होने की अपेक्षा अपने आप को समाप्त कर देना अधिक श्रेष्ठकर समझा। ये सभी बातें तो प्रस्तुत लोक-गाथा से स्पष्ट होती ही हैं, इन के अतिरिक्त लाहुल पर चीनी तुर्किस्तान के खानाबदोशों द्वारा आक्रमण करना, सिंग-प यानी सिखों के द्वारा 6 वर्ष (1840-1846) तक लूटमार और अत्याचार करना तथा कुल्लू के सामन्ती परिवारों द्वारा लाहुल की निरीह जनता पर अन्याय ढाना आदि-आदि बातें वहाँ की दन्तकथाओं से उद्घटित होती हैं।

इस प्रकार विभिन्न स्त्रोतों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि लाहुल पर कुल्लू राज परिवारों ने 11वीं से लेकर 19 वीं शती के प्रथम चरण तक कभी स्थाई और कभी अस्थाई रूप से अधिकार किए थे। राजा प्रीतम सिंह जी 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लाहुल पर राज्य कर रहे थे, तो उस समय कैता माया राम ने आत्महत्या की थी। उस वीर कैता माया राम की अमर कहानी यानि लोक-गाथा और गाथा का आशय निम्न प्रकार से है –

1– राजा प्रीतुमारा कागुता आई ओ।
एक समय कुल्लू राज वंश के राजा प्रीतम सिंह का हुक्कम-नामा लाहुल आया अर्थात् पहुंचा।
2– ऐसी कागुताए मैया रामा ताही ओ।
वह हुक्कम-नामा पटनवादी के झुण्ड निवासी, कैता परिवार के श्री माया राम के लिए (= नाम) था।
3– एकी न ध्याड़ीए ढौबै द्वाड़े पहुंची ओ।
उस समय लाहुल और कुल्लू के मध्य यातायात का कोई साधन नहीं

था । अतः लोग पैदल ही आते-जाते थे । इस प्रकार पत्र-वाहक कुल्लू राज-दरबार से पत्र लेकर एक दिन में ढौबी द्वार पहुंचा ।

4- दूजी न ध्याड़िए मुनाड़ी कोठी ओ ।
5- त्रिजी न ध्याड़िए जोत लंघाय ओ ।
6- चौथे न ध्याड़िए खोगसरा पहुंची ओ ।
7- पन्जु न ध्याड़िए सीसू पहुंची ओ ।
8- छेओ न ध्याड़िए गुन्दुले-रा कोठी ओ ।
9- सातू न ध्याड़िए तान्दी-रा कोठी ओ ।

वह वहां से चल कर दूसरे दिन सदर -मकान मनाली पहुंचा । तीसरे दिन उसने जोत यानी रटाँग दर्रे को पार किया । चौथे दिन वह खोगसर पहुंचा । पांचवें दिन सीसू पहुंचा । छठवें दिन गोंधला पड़ाव पर पहुंचा तथा सातवें दिन वह तन्दी मुख्यालय पहुंच गया ।

10- तान्दी-रा कोठीए त्रिजी कामुदारा ओ ।

उस समय कुल्लू प्रशासन की ओर से राजस्व प्राप्त करने तथा कानून व व्यवस्था बनाए रखने के लिए तत्कालीन तन्दी मुख्यालय में तीन राज्य कर्मचारी नियुक्त होते थे । जिन में एक बड़े अधिकारी, एक हाकिम तथा एक कानूनगो होता था ।

11- जोड़ी-ता हजूरीए कीजी कामे आई ओ ।

पत्र-वाहक उन अधिकारियों के सम्मुख पहुंच कर तथा हाथ जोड़ कर जी, हजूर, आदि दरबारी रस्म अदा करने लगा तो राज शक्ति के मदांध उन अधिकारियों की त्योड़ी चढ़ गई और वे उन से पूछने लगे कि तुम यहां किस काम के लिए आए हो ?

12- कैता मैया रामेरीए कागुता आई ओ ।

इस पर पत्र-वाहक ने राज-पत्र को उन अधिकारियों को दिखाते हुए कहा कि झुण्ड निवासी कैता माया राम के नाम यह कागज़(हुक्-कमनामा) आया है । मैं इसे लेकर कुल्लू राज-दरबार से आ रहा हूं ।

13- आठूना ध्याड़ीए फूड़ेरा प्रौड़ी ओ ।

पत्र-वाहक वहां से आगे बढ़ा और इस प्रकार वह आठवें दिन फूडङ नामक गांव पहुंचा।

14– हकुमा पम्बूड़ाए पूछूणी लागी ओ।

फुडङ गांव में भी राज्य की ओर से एक हाकिम नियुक्त था। हाकिम जिस का नाम पम्बूड़ा (=पल-बर) था, आदतन अपनी मूछों पर ताब देते हुए बड़े रोब-दाब के साथ पत्र-वाहक से पूछने लगा कि तुम यहां किस काम के लिए आए हो ?

15– हकुमा पम्बूड़ा कागुता बांची ओ।
ऐसो कागुताए मेरे-राताहीं ओ।

इस पर पत्र-वाहक अपनी हैसियत जताने के लिए राज-पत्र को हाकिम के सामने रखते हुए कहा कि मैं राज-दरबार का एक कर्मचारी हूं और राज्य के काम से ही यहां आया हूं। इतने में वह अनाड़ी हाकिम उस मोहर बंद राज-पत्र को बेधड़क खोल कर पढ़ने लगा और कहने लगा कि यह पत्र तो मेरे लिए नहीं है।

16– कला दोतिए तलजोणे आए ओ।
कैता मैया रामाए मंजे ऊपरी सोई ओ।

दूसरे दिन सुबह वह पत्र-वाहक क्रमशः तलजोण नामक ग्राम पहुंचा। उसी के पार्श्व भाग में माया राम का गांव था। वह वहां से आगे बढ़ा और झुण्ड गांव पहुंच गया। उस समय कैता परिवार के गृह स्वामी श्री माया राम चारपाई पर लेटे आराम कर रहे थे। पत्र-वाहक ने राज-पत्र को माया राम की ओर बढ़ाया तो –

17– कैता मैया रामाए कागुता बांची ओ।

कैता माया राम ने राज-पत्र को बड़े आदर के साथ अपने दोनों हाथों से धारण किया और उसे सिर-माथे लगा कर गंभीरता पूर्वक पढ़ने लगा।

18– घोड़ी-त चाढ़ेए फूड़ा जोगु आई ओ।

पत्र को पढ़ने के पश्चात् वे अन्यमनस्क सा हो गए और तुरन्त घोड़े पर चढ़ कर हाकिम पम्बूड़ा से सलाह-मशवरा करने फूडङ गांव

को ग्रोर चले आए।
19- हकुमा पम्बूड़ा पूछुणी लागी ओ।
तैसरी ध्याड़ीए दो गल्ला होई ओ।

माया राम फूडङ पहुंच कर ग्रभी घोड़े से नीचे उतर भी नहीं पाए थे कि आदत का मारा हाकिम पम्बूड़ा ग्राफिसरी लहजे में उन से पूछने लगा कि हे, माया राम ! तुम ने कौन सी बेवक़ूफी की बात की है, जिस की वजह से राजा तुमसे इतना नाराज है ? इस सिलसिले में ग्रब गर्मी के दिनों तुम्हारे खिलाफ कुल्लू राज दरबार में दो बातें होंगी यानि तुम पर मुकदमा चलेगा। इस के लिए तुम्हें ग्रभी से तैयार रहना होगा। माया राम, हाकिम पल-बर के साथ सलाह-मशबरा करने तथा सहा-यता मांगने की बात सोच कर ग्राए थे, परन्तु हाकिम के असहयोगपूर्ण व्यवहार से, उन की सारी योजनाएं धूमिल पड़ गई। ग्रत: वे उसी स्थान से पुन: -

20- घोड़ी - त चाढ़ ए गोरुमे ग्राएं ग्राई ओ।
कान्हा हकुमाए कागुता बांची ग्रो।।

घोड़े पर चढ़े और सीधा गोरमा गाँव की ग्रोर चले आए। उस समय गोरमा में कान्हां(=कर्ण) नामक एक हाकिम रहता था। चितातुर माया राम ने राज-आज्ञा को उन से दिखाते हुये मार्ग-दर्शन ग्रौर सह-योग के लिये प्रार्थना की। हाकिम कान्हा ने पत्र को पढ़ कर कहा कि -

तैंसेरी ध्याड़िए पिता-पाणिरे डारे ओ।
तैंसेरी ध्याड़िए दो गल्ला होणी ग्रो।।

इस हुक्कम-नामा के मुताबिक तुम पर राज-द्रोही का इलज़ाम है, और गर्मी के दिनों जब कुल्लू में पित्त (=पीलिया) ग्रौर पानी (=बरसात) का बड़ा खतरा रहता है। उन गर्मी के दिनों तुम पर कुल्लू राज-दरबार में मुकदमा चलेगा। हाकिम कान्हा ने ग्रपनी ओर से कहा कि हुक्कमनामा जारी हो चुका है, इसलिए अब मैं तुम्हारी कुछ भी मदद नहीं कर सकता।

22- कैता मैया रामाए घरे जोगु ग्राई ग्रो।

हाकिम कान्हा का निराशाजनक उत्तर सुनकर माया राम व्यथित हो गये और भीतर ही भीतर उन की आत्मा रोने लगी। अब उन्हें दिशायें सुन्न प्रतीत होने लगीं। इस प्रकार कैता माया राम वहाँ से पुनः अपने घर की ओर चले आए।

23– कला दौती ध्याड़िए शंशा-रे जातरे ओ :
लोको दुनियाँए जातुरू जो आई ओ।

दूसरे दिन सुबह से शांशा गांव में एक उत्सव लगना था, अतः सारी दुनियां के लोग उस उत्सव के लिये आ रहे थे।

24– कैता मैया रामाय जातुरू आई ओ।
ध्याड़ी आधू ध्याड़ी घरे जोगु आई ओ।

दुःखी-मनः कैता माया राम भी अपने दिल बहलाने के लिये उत्सव में तो आये, परन्तु छुरी तले जीवन जीने वाला कब तक अपने को सुखी अनुभव कर सकता है। इस प्रकार उन का मन उत्सव से उच्चाट हो गया और वे वहां से आधे ही दिन में अपने घर की ओर चले आये।

25– कैता मैया रामाएं गला घोटा दीती ओ।
कैता मैया रामाए स्वर्गा प्रावत मुई ओ।

माया राम को जब अपना भी भार स्वरूप प्रतीत होने लगा। वे सोचने लगे कि ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है। मृत्यु से आलिंगन करने में अब उन्हें उतावली हो रही थी। इस प्रकार कैता परिवार के गृह स्वामी श्रीं माया राम ने अपना गला घोंट लिया और वे तुरन्त निष्प्राण हो गए। राज-आज्ञा अब उनका बाल भी बांका नहीं कर सकती थी। माया राम, आदर्श के लिऐ शहीद होकर स्वर्ग को प्राप्त हुए। उनका बलिदान व्यर्थ नहीं गया। तत्कालीन गवैयों ने उनके आदर्शमय जीवन को काव्य में संजोकर उनको अमर बना दिया। आज भी गांव के रसिक गवैए, माया राम की अमर-गाथा को जब लय में गाने लगते हैं तो श्रोताओं की आंखों से श्रद्धाश्रु निर्झर बहने लगता है।

पांगी क्षेत्र का जन जीवन

चुनी लाल ठाकुर

पांगी क्षेत्र, हिमाचल प्रदेश के जिला चम्बा का वह भाग है जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य, जल-प्रपातों, फूलों से भरी घाटियों, बर्फानी चोटियों के अलावा पंगवाल जनमानस के रहन-सहन, लिवास, खान-पान और रीति रिवाज़ अर्थात् खूबसूरत वादी के साथ-साथ खूबसूरत लोगों की वजह से मशहूर है। पंगवाल जन जीवन की कहानी मानव के जिन्दा रहने के लिए संघर्ष की कहानी से अलग नहीं है। पांगी की भूमि पांच से सात महीने तक बर्फ की पर्तों के नीचे दबी रहती है। अनाज की साल में एक फसल मुश्किल से प्राप्त होती है। पांच सात महीने तक बर्फ में रहने वाले लोगों को रोज़गार कमाने, जरुरतों को पूरा करने के लिए काम काज करना पड़ता है न केवल अपने लिए बल्कि भेड़, बकरियों तथा अन्य पशुओं के लिए घास फूस और चारा अन्दर रखना पड़ता है। कई महीनों के लिए अनाज पीसकर अन्दर रखना पड़ता है। और लेकिन इन कठिनाईयों तथा कुदरती हादसों से जूझते हुए भी पांगी क्षेत्र के लोगों के चेहरों पर सूखे, लवों पर मुस्कराहट रहती है। पांगी घाटी में सिर्फ ठण्ड़े पानी के झरने और चश्में ही नहीं बहते, बल्कि वहाँ पर गीत और नगमें भी गाये जाते हैं। धरती पर कुदाल हल चला कर ही मेहनत नहीं की जाती बल्कि उस धरती पर नाच भी नाचे जाते हैं, झूम-झूम कर गीत तथा नगमें भो गाऐ जाते हैं। ढोल, बांसुरी रणसिंहें और तरह-तरह के बाजे फिज़ा में गूंज भी पैदा करते हैं। हरे-भरे पहाड़ों की घाटियों में बसने वाले लोगों का जीवन भी कुछ अपने किस्म का है।

गद्दियों तथा गुज्जरों की तरह पाँगी क्षेत्र के लोग सर्दियों के मौसम में अकसर स्थान छोड़ कर जीवन निर्वाह के लिए बाहर नहीं जाते। बल्कि

अपने घरों में बैठ कर रंग-बिरंगे डिजाईनदार ऊनी कम्बल, ऊनी पट्टियां और बकरी के बालों से चटाईयां धोबी तैयार करने का काम करते हैं, जो कि पांगी क्षेत्र के कुटीर उद्योग भी हैं। लेकिन मेहनत मज़दूरी करने के लिए कुछ लोग सर्दियों में बाहर अवश्य जाते हैं। घर-गृहस्थी चलाने में जितना काम औरतें करती हैं शायद उतना मर्द नहीं करते। हल, कुल्हाड़ा चलाना सिर्फ ये दो काम ऐसे हैं जो औरतें नहीं करती। बाकि के सभी काम औरतें ही करती हैं। औरतों के प्रति मर्दों का वही व्यवहार या मान है जो सारे देश का है।

गहने औरतों की स्वाभाविक कमजोरी है। पांगी की औरतों में भी इस कमजोरी के आसार नज़र आते हैं। कानों में दर्जनों मुरकियां, शटडू-शंकली पहनना, नाक में लौंग, बाहों में टोके व बंगें, कंगणु, गले में डोडमाला तथा तबीत सजाना पंगवाल महिलाओं को बहुत प्रिय है। चूड़ीदार पजामा और ऊपर रंग-बिरंगी चादर कलात्मक ढंग से पहना जाता है। पंगवाल औरतें चूनर या चादर नहीं ओढ़तीं बल्कि सिर पर जोजी पहनती हैं। मर्दों का लिबास मुकावलन सादा होता है। ऊनी कोट, पजामा और सिर पर विशेष प्रकार की सफेद टोपी पहनी जाती है।

पांगी क्षेत्र में संयुक्त परिवार प्रथा आमतौर पर प्रचलित है। परिवार का सबसे बड़ा आदमी मुखिया होता है। घर के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सारा गांव एक बड़े परिवार की तरह काम करता है। एक ही गांव में शादी-विवाह नहीं किया जाता क्योंकि सामाजिक तौर पर गांव के सभी लड़के-लड़कियां आपस में भाई-बहन की तरह व्यवहार करते हैं। पंगवाल समाज में पर्दा प्रथा तथा दहेज जैसी कुरीतियों का कोई असर नहीं है। पंगवाल समाज में एक साफ सुथरा वातावरण देखने को मिलता है। आपस में मिल-जुल कर एक दूसरे की मदद करना अपना फर्ज़ समझते हैं।

पांगी क्षेत्र में आम तौर पर चार समुदाय के लोग रहते हैं राजपूत, ब्राह्मण, आर्य तथा लोहार। लेकिन राजपूत तथा ब्राह्मणों की संख्या अधिक है। राजपूत चन्द्रवंशों तथा ठाकुर गोत्र से सम्बन्धित हैं। सभी

लोग खेती-बाड़ी, कताई तथा बुनाई का व्यवसाय करते हैं। पांगी के लोगों ने बहुत पहले से घरेलू जीवन को सुखी बनाने का मंत्र और दहेज जैसी कुरीतियों से बचने का प्रबन्ध अपने रहन-सहन रीति रिवाज़ और खान-पान के नियम बनाकर सुखी जीवन बिताने के प्रयत्न कर रखे हैं, जैसे कि पांगी के सामाजिक जीवन में जात-पात का कोई महत्व प्राप्त नहीं है। ब्राह्मण कन्या की शादी ठाकुर लड़के से और ब्राह्मण लड़का ठाकुर घराने की लड़की से शादी कर सकता है। ऐसा करते हुए यह नहीं माना जाता है कि लड़के या लड़की ने कोई सामाजिक बन्धन तोड़े हैं या किसी नियम का उलंघन किया है। शादी से पहले लड़का लड़की आपस में मिलते रहते हैं। इसे कोई बुराई नहीं माना जाता है, बल्कि इसे एक प्रकार से बहुत जरूरी समझा जाता है। लड़के और लड़की के माता-पिता की जानकारी में यह सब होता है। लड़की की इच्छा पर या हामी पर ही लड़के का पिता सगाई या मंगनी के लिए खुद या अपने सगे सम्बन्धी के द्वारा कोशिश करता है।

धर्म और परम्पराओं के प्रति पंगवाल लोगों के मन में बड़ा सम्मान है। बर्षों तक मिशनरी पांगी जाते रहे, प्रचार करते रहे लेकिन किसी भी पंगवाल ने कभी भी अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया। छूत और अछूत का मसला पहले ही पांगी वालों ने इतना हल कर रखा है कि देश भर में कानून बन जाने पर भी उतना हल नहीं हो पाया है। अछूत कहे जाने वाले लोग मन्दिरों में न सिर्फ जा ही सकते हैं बल्कि कुछ एक कामों में उनका शामिल होना सामाजिक रूप से उतना ही जरूरी है जितना ब्राह्मण या ठाकुर का। मंदिरों में जाने या एक जगह से पानी भरने जैसी कोई भी समस्य पंगवाल समाज में कभी भी नहीं रही है। जिन देवी देवताओं की पूजा पद्धति पांगी में प्रचलित है, उससे एक बात तो बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि हिन्दुओं के वैष्णव मत और वैष्णव मान्यताओं को वहां कोई स्थान प्राप्त नहीं है बल्कि शैव और शाक्त मत को पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है। इन बातों से साफ जाहिर है कि जिन लोगों ने पांगी की भूमि को तलाश किया और वहां रहना शुरू किया आखिर वे कौन लोग थे, कब वहां आये होंगे। इस बात का यही नतीजा निकलता है कि जिन लोगों की टोली पहले वहां

पहुंची होगी वह न तो आज के सैलानी या टूरिस्ट होंगे न शिकार के शौकीन बल्कि वह अपने लिए किसी सुरक्षित स्थान की तलाश में ही वहां पहुंचे होंगे और फिर अपनी धार्मिक मान्यताओं की रक्षा के लिए अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिये या फिर जीवन की रक्षा के लिये पांगी की विकट घाटियों तक पहुंचे होंगे और फिर वहां बस जाने का यह भी साफ मतलब होगा कि वह त्यागी हो कर तपस्याक रने के लिये नहीं बल्कि अपनी घर गृहस्थी बसाने के लिए ही जगह की तलाश में पहुंचे होंगे। धर्म और परम्पराओं के प्रति पंगवाल लोगों के मन में बड़ा सम्मान है। जात्राओं, मेलों, सामाजिक त्यौहारों में धर्म, देवी देवता पूजन का उतना ही महत्व है जितना कि मौसम की तबदीली और ऋतु परिवर्तन का !

पांगी क्षेत्र में नौ प्रसिद्ध मन्दिर हैं जिन्हें वहां की जनता पूजती है। पांगी में मन्दिरों को स्थानीय भाषा में देहरा कहा जाता है। मन्दिरों की देखभाल गांव के लोगों द्वारा की जाती है। पांगी क्षेत्र में अभी भी प्रजा प्रथा प्रचलित है। प्रजा गांव के लोगों में से एक पुजारी नियुक्त करती है जो मन्दिरों में पूजा की रस्म पूरी करता है। केवल ब्राह्मण या राजपूत ही पुजारी बन सकते हैं। पुजारी की मृत्यु के बाद उसका लड़का या निकटतम सम्बन्धी अगला पुजारी बन सकता है।

देवताओं के चेले नियुक्त करने की पद्धति भी वही है जो एक पुजारी बनने की है। जो प्रसाद मन्दिर में चढ़ाया जाता है पुजारी उसको लेने का पूरा हकदार है। मन्दिर में बकरे की बलि चढ़ाई जाती है और उसका कुछ हिस्सा भी पुजारी को मिलता है। पांगी क्षेत्र की किलाड़ घाटी में देंत नाग का मन्दिर बड़ा मशहूर है। किलाड़ घाटी पांगी का मुख्यालय भी है। इस इलाके में देंत नाग देवते का बड़ा भारी महत्व है और सूखे की स्थिति में इस देवते की खास कर पूजा की जाती है। गर्मियों में जब वर्षा नहीं होती है क्योंकि इस इलाके में बारिश बहुत कम होती है, उस स्थिति में किलाड़ प्रजा के सभी लोग देंत नाग देवते के पास ढोल, नगारों सहित जाते हैं और वहां पर बकरे की बलि चढ़ाई जाती है। इस देवते की पूजा हर साल फूल जात्रा के

दिन भी की जाती है जो कि अक्तूबर मास में मनाया जाता है। इस देवते के बारे में ऐसी विचार धारणा है कि पहले देंत नाग का मन्दिर लाहुल में था। वहां पर हर साल गांव के लोगों को एक आदमी की बलि इस देवते को चढ़ानी पड़ती थी। इस इलाके के एक गांव में एक विधवा रहती थी जिस के सात लड़के थे। उसके छ: लड़के इस देवते को बलि चढ़ा दिये गये थे। जब उसके आखिरी सातवें लड़के की बारी बलि चढ़ने की आई तो वह बहुत उदास थी और बहुत जोर जोर से रो रही थी इतने में उस गांव में एक गडरिया आ पंहुचा। उस दिन उसने बहुत लम्बा सफर तय किया था और वह बहुत थका हुआ था। वह वहां पर किसी के पास ठहरने की इच्छा में था और उसे भूख भी काफी सता रही थी। वह उस विधवा के घर जा पहुंचा उस समय वह विधवा मन्डे पका रही थी और उस गडरिये ने देखा कि उस बूढ़ी औरत की आंखों से आंसू बह रहे थे। कुछ देर के बाद उसने उस विधवा से पूछा कि क्या बात है ?

उस विधवा ने अपनी सारी दुःख भरी कहानी सुनाई और बताया कि अगले दिन उसके आखिरी लड़के की बलि की बारी है। ऐसा कहा जाता है कि उस बूढ़ी औरत की दुःख भरी कहानी सुनकर वह गडरिया पिघल गया और उसने अपने आप को उसके लड़के के बदले में बलि चढ़ने के लिए पेश किया। इस पर वह बूढ़ी औरत बहुत खुश हुई और जल्दी ही यह खबर सारे गाँव में आग की तरह फैल गई तथा अगले दिन उस गडरिये को बड़े समूह में देवतों के मन्दिर में ले जाया गया। सारे रास्ते में वह खुश था लेकिन जब उस मन्दिर के पास पहुंचा तो उसने लोगों को बताया कि अगर यह देवता सच्चा है तो मुझे उसे खाने दो, बजाये कि दूसरे उसके नाम पर बलि चढ़ें। गांव के लोग सभी उससे सहमत हो गये। इस के बाद वह उस देवते के पास गया और अपने आप को उसके सुपुर्द करने लगा लेकिन काफी देर तक कुछ नही हुआ तो उसने लोगों को बताया कि वह एक भूठा देवता है तथा उसने बताया कि यह उसका नैतिक कर्तव्य है कि वह लोगों को इस भूठे देवते के चुंगल से बचाये। इतने में वह उस मन्दिर के अन्दर गया और उस देवते की प्रतिमा चन्द्रभागा में फेंक दी। इस तरीके से उस गांव के लोग इस

देवते से छुटकारा पा सके।

लेकिन अब इस कहानी का दूसरा भाग शुरू होता है। जब देंत नाग की प्रतिमा चन्द्राभागा में फेंकी गई तो यह लुढ़कती हुई किलाड़ के समीप चन्द्रभागा के किनारे रूकी और ऐसा कहा जाता है कि एक पंगवालन उस नदी के किनारे अपने माल मवेशियों को चराने के लिये ले जाया करती थी। एक दिन उसकी एक चूरी(सुरागाय) ने घर पर दूध बिल्कुल नहीं दिया तो इस पर वह पंगवालन बहुत दुःखी हुई और उस के बाद उसने उस चूरी पर कड़ी नज़र रखनी शुरु कर दी।

जब वह अपने पशुओं को चराने के लिए ले जाती थी तो उस चूरी के गर्दन में एक लम्बी रस्सी डाल छोड़ती थी। एक दिन अचानक उसने देखा कि एक पत्थर की प्रतिमा नदी के पानी से बाहर आई और उसने चूरी के रतनों से दूध चूसना शुरु कर दिया और उस पंगवालन ने उस पत्थर से पूछा कि क्या बात है उसकी चूरी का दूध क्यों पी रहा है। इतने में पत्थर फिर पानी में छुप गया। कुछ दिनों के बाद वह पत्थर की प्रतिमा फिर दिखाई दी और उसने पंगवालन से पूछा कि वह गडरिया कहां है। उस पंगवालन ने जवाब दिया कि इस नाम का कोई आदमी यहां नहीं है और न ही वह किसी को जानती है। इतने में वह औरत उस पत्थर से उसकी पहचान के बारे में पूछती रही। पत्थर की प्रतिमा नदी के पानी से बाहर आई और उसने बताया कि वह देंत नाग देवता है और उसने पंगवालन से अनुरोध किया कि उसे किलाड़ की तरफ ले चल उसने बताया कि अगर रास्ते में कहीं उस का वजन भारी महसूस हो वहां पर उसे नीचे रख दे। इतने में उस पंगवालन ने घबराते हुए उस प्रतिमा को अपनी पीठ पर उठाया और धीरे-धीरे किलाड़ की तरफ चल पड़ी हौसुन नामक स्थान पर यह प्रतिमा इतनी भारी लगने लगी कि उस पंगवालन को चलना मुश्किल हो गया, उसने उस प्रतिमा को वहीं पर छोड़ दिया तथा बाद में किलाड़ के लोगों ने वहां धीरे-धीरे मन्दिर की स्थापना शुरु कर दी। इसके अतिरिक्त सिंघासनी माता का मन्दिर कुफा नामक गांव में स्थित है। हर साल बैशाख के महीने में जात्र मनाई जाती है और इस देवते की पूजा की जाती है।

इसके इलावा कवास नामक गांव में एक दूसरे नाग देवता का मन्दिर है जो कि पशुओं को बिमारी से बचाने के लिए पूजा जाता है। एक अन्य देवता जिस को नवकुण्ड देवता बोलते हैं इस का मन्दिर हुन्डान में स्थित है और हर साल भादों में यहां मेला मनाया जाता है। मलासनी माता का मन्दिर किरयूनी में स्थित है जो कि किलाड़ से तीन मील की दूरी पर है यहां पर हर साल चैत्र में एक बड़ा मेला मनाया जाता है। एक अन्य महत्व पूर्ण चामुण्डा देवी का मन्दिर मिन्धल गांव में स्थित है। हर साल भादों में यहां बहुत बड़ा मेला मनाया जाता है। सिगबान देवता तथा बलीन बासना का मन्दिर पुन्तों तथा किरमास नामक गांव में स्थित है जो कि किलाड़ से लगभग तीन मील की दूरी पर है। इसके इलावा प्रसिद्ध मन्दिरों में शीतला देवी का मन्दिर भी है जो कि किलाड़ से लगभग दस मील की दूरी पर पश्चिम दिशा की ओर लुज नामक गांव में स्थित है। इस देवी की पूजा हर रविवार को की जाती है।

पांगी क्षेत्र की स्थानीय भाषा में मेलों को जात्रा कहा जाता है। गांव के भोले-भाले लोग इन जात्राओं के बड़े भारी शौकीन होते हैं जिनमें से कुछ महत्व पूर्ण त्यौहार इस प्रकार से हैं। ऊमान की जाजा किलाड़ तथा धरवास में हर साल माघ तथा फाल्गुण मास में मनाई जाती है। यह मेला तीन दिन तक चलता है। पहले दिन का मेला राजे के नाम पर मनाया जाता है और आज कल प्रजा के नाम पर। दूसरे दिन का मेला प्रजा के नाम पर मनाया जाता है तथा तीसरे दिन का मेला नाग देवते के लिए मनाया जाता है। इस मेले में लोग दिन को ढोल बांसुरि तथा नगारे की आवाजों पर नाचते हैं और शाम को गांव की औरतें घरों में नाचती हैं। ऊनौनी की जात्रा चैत्र मास में चार स्थानों पर मनाई जाती है। ये स्थान हैं लुज, सुराल, किरयूनी, तथा किरमास। इन मेलों में शीतला देवी, शक्ति देवी, मलासनी माता तथा बलीन बासना की पूजा की जाती हैं। इस के इलावा दखेण का मेला हर साल श्रावण मास की तीन-चार तारीख को हुन्डान में मनाया जाता है। यह मेला भोटों का होता है परन्तु इसमें पंगवाल लोग भी हिस्सा लेते हैं।

मिन्लिमाठ तथा सारजाठ का मेला मिन्धल नामक गांव में बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। यह मेला एक दिन के लिये मनाया जाता है। मिन्लिमाठ मेले के दिन चमुन्डा देवी की सुबह से शाम तक पूजा की जाती है और भेड़ तथा बकरे की बलि भी चढ़ाई जाती है। इस के इलावा पांगी क्षेत्र का सबसे मशहूर मेला फूलमाठ का है। यह मेला हर साल कार्तिक मास में कुफा तथा किलाड़ में मनाया जाता है जो कि तीन-चार दिन तक चलता है। इस मेले में लुज, धरवास, सुराल तथा हुन्डान से लोग आकर हिस्सा लेते हैं। इस मेले में हजारों की संख्या में बच्चे, औरतें तथा मर्द रंग-बिरंगे कपड़े पहन कर आते हैं और आपस में मिलजुल कर खुशी मनाते हैं। इस मेले की यह विशेषता है कि इस दिन तक लोगों ने अपनी खेती-बाड़ी का सारा काम लगभग पूरा कर लिया होता है और इसके बाद पांगी क्षेत्र में बर्फ पड़नी शुरु हो जाती है और लोग फिर दूर-दूर से आकर आपस में मिल-जुल नहीं सकते और पांगी क्षेत्र देश के अन्य भागों से छः महीने के लिए कट जाता है।

इसके अतिरिक्त पांगी क्षेत्र में कई प्रकार के स्थानीय त्यौहार भी बड़े धूम धाम से मनाये जाते हैं जैसे कि संक्रान्ति, पूर्णमासी, शिवरात्री, जन्माष्टमी। इस के इलावा सिल का स्थानीय त्यौहार हर साल फल्गुण तथा चैत्र मास की अमावस को मनाया जाता है। इस त्यौहार को गांव के लोग बड़े धूम-धाम से मनाते हैं क्योंकि इस दिन से बर्फ का मौसम कुछ कम हो जाता है और बड़ी सर्दी से सभी लोग सकुशल रहे। इस दिन गांव के सभी लोग सुबह जल्दी उठ जाते हैं और तरह-तरह के पकवान बनाते हैं जिन में मन्डे चीणा,हल्वा,घी तथा भात बगैरा शामिल हैं। इसके बाद परांदे का त्यौहार होता है जो सिल के दूसरे दिन होता है। इस दिन घर में सभी लोग सुबह चार बजे उठते हैं और नहा धो कर पूजा पाठ करते हैं तथा फिर एक दूसरे के गले मिलते हैं और उसके बाद फिर सारे गांव में तथा अपने-अपने रिश्तेदारों के घरों में जाते हैं व आपस में मिलते जुलते हैं। इसके बाद पुनेई का त्यौहार आता है। इसके इलावा लिशु का त्यौहार होता है जिसे बैशाखी का त्यौहार भी बोलते हैं। यह त्यौहार बैशाख में मनाया जाता है और इस दिन सारे

मन्दिर जो सर्दियों के लिए बन्द कर दिये थे खोल दिए जाते हैं। चजगी का त्यौहार पोष मास की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इस दिन गांव के सभी लोग शाम को छः सात बजे अपने-अपने खेतों में मुशारे लेकर जाते हैं और उसके बाद सभी एक निश्चित जगह मुशारे का खेल-खेलते हैं और फिर उस मुशारे को वृक्ष पर फेंक देते हैं। उसके बाद अपने-अपने घरों को वापस आ जाते हैं। इस दिन शिवजी की पूजा की जाती है। वार का त्यौहार पोष महीने आखिरी मंगलवार को होता है। इस दिन लोग काली माई की पूजा करते हैं। इन मेले तथा त्यौहारों को बड़े उत्साह से मनाने से साफ जाहिर होता है कि पंगवाल लोगों के मन में अपने धर्म तथा रीति रिवाजों के प्रति बड़ा भारी सम्मान है। पंगवाल लोग गाने तथा नाचने के भी बहुत शौकीन हैं। ऐसा कोई सामाजिक बन्धन नहीं है जब कभी ऐसा मौका आता है तो वे आपस में ग्रुप बना करके नाचते रहते हैं। मर्द तथा औरतें हमेशा अलग अलग नाचते है। घुरेई एक स्थानीय नाच है। पांगी हमेशा चम्बा जिले का एक पिछड़ा क्षेत्र रहा है। प्रदेश के अन्य स्थानों पर बहुत से परिवर्तन हुए हैं परन्तु पांगी में इस परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। पांगी की दुर्गम घाटी तक पहुंचने के लिये आमतौर पर तीन रास्ते हैं। एक रास्ता चम्बा से, दूसरा जम्मू-काश्मीर राज्य के किश्तवाड़ तथा तीसरा रास्ता लाहुल-स्पिति के त्रिलोक नाथ से है। इन रास्तों में से केवल जम्मू काश्मीर वाला रास्ता सर्दियों में आने जाने के लिए खुला रहता है बाकी के दोनों रास्ते छः महीने के लिये बन्द हो जाते हैं और पांगी घाटी का सम्पर्क प्रदेश तथा देश के अन्य भागों से कट जाता है। चम्बा के रास्ते से पांगी जाते हुये तरेला नामक स्थान आता है जहां तक आजकल बस भी जाती है जो कि चुराह तहसील का आखिरी स्टेशन है। तरेला से किलाड़ जो कि पांगी का मुख्यालय 31 मील दूर रहता है और यह सारा रास्ता पैदल तय करना पड़ता है। तरेला व्यापार का भी एक मुख्य केन्द्र है जहां से पांगी के लिये हर वस्तु की अपूर्ती की जाती है यहां से सारा सामान आदमी खुद अपनी पीठ, खच्चरों तथा भेड़-बकरियों की पीठ पर लाद कर पहुंचाते हैं। क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई अन्य साधन सामान पहुंचाने का नहीं है। तरेला के बाद अगला स्थान सतरुन्ड़ी आता है जिसकी ऊंचाई लगभग 11000 फीट है। यहां पर

एक सरकारी विश्राम गृह है और यहां पर कोई बस्ती नहीं है। इसके अगले सुबह 5 बजे साच पास की चढ़ाई चढ़नी पड़ती है। यह चढ़ाई लगभग तीन मील सीधी चढ़ाई है। इस चढ़ाई को चढ़ने के बाद साच पास पर पहुंचते हैं जिस की ऊंचाई 14,500 फीट है। साच पास से पांगी क्षेत्र की सीमा आरम्भ हो जाती है साच पास से दुनेई तक का रास्ता ऊतराई वाला है और कई जगह पर बर्फ के गलेशर के ऊपर भी चलना पड़ता है क्योंकि इस रास्ते में कई जगह पर बर्फ बारह महीने जमी रहती है। इस साच पास के ऊपर भगवती देवी की प्रतिमा पांगी के लोगों द्वारा रखी गई है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह देवी मौसम पर नियन्त्रण तथा यात्रियों की सुरक्षा करती है। जब साच पास को पार करते हैं सभी लोग इस देवी की पूजा करते हैं और लाल रंग के कपड़े का एक टुकड़ा भेंट करते हैं और बाद में उस कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं और सभी यात्रियों में बांटते हैं। इसके बाद दुनेई का स्टेशन आता है जहां पर किलाड़ से वापस आते हुये रात को ठहरना पड़ता है। दुनेई के बाद किलाड़ तक का रास्ता ठीक है। और आखिर में किलाड़ को जाते हुए चन्द्रभागा नदी के ऊपर बने एक पुल को पार करना पड़ता है जो कि बहुत हिलता भी है। रास्ते में इसी प्रकार के छोटे-छोटे कई झूले पार करने पड़ते हैं। इस प्रकार चम्बा से किलाड़ तक का रास्ता बहुत कठिन तथा थका देने वाला है। किलाड़ में यात्रियों को ठहरने के लिये लोक निर्माण विभाग का एक विश्राम गृह भी है। इसके अतिरिक्त पांगी क्षेत्र के कुछ मुख्य स्थान देखने के काबल है जैसे कि धरवास जहां पर तिल मिली का पानी बहुत मशहूर है जो कि स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है। लोग इस पानी को पीने के लिए बहुत दूर से आते हैं। इस के बाद लुज, मिन्धल तथा पुर्भी नामक स्थान देखने लाईक हैं। सुराल तथा हुन्डान के स्थान बहुत ऊंचाई पर स्थित हैं जहां पर अधिकतर बौद्ध धर्म के लोग रहते हैं इन बुद्ध धर्म के मानने वाले लोगों को स्थानीय भाषा में भोट बोलते हैं। जिन में से कुछ लोग लामे बन जाते हैं। इन लोगों के मन्दिरों को गुम्फ बोलते हैं जो कि देखने योग्य है। भोट लोगों की भाषा भी अलग है। इन इलाकों में आलू की पैदावार बहुत ज्यादा होती है। इन लोगों की

औरतों का नाच पांगी में बहुत मशहूर है ।

इस प्रकार पांगी क्षेत्र के लोगों का जीवन एक संघर्षमय जीवन है यहां के लोग बहुत भोले-भाले तथा मेहनत कश हैं । पहले बहुत कम लोग पढ़ना लिखना जानते थे लेकिन अब विकास के इस दौर में वहां के लोग भी पढ़ने लिखने में काफी दिलचस्पी लेने लगे हैं । पढ़ने लिखने में अब लड़कियाँ भी लड़कों से कम नहीं हैं । पंगवाल लोगों का आर्थिक जीवन बहुत सादा है । वे मुख्यत: जीवन निर्वाह के लिए खेती बाड़ी पर निर्भर हैं । खेती-बाड़ी करने का तरीका भी पुराना है इस लिए पैदावार भी बहुत कम होती है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने विकास सम्बन्धी कई योजनायें चलाई हैं जिन में से मुख्यत: इस क्षेत्र में सड़क तथा भवन निर्माण का कार्य है । इन योजनाओं में पांगी के लोग मज़दूरी करके अपनी दैनिक जीवन की जरूरतों को पूरा करते हैं और कुछ लोग अब सरकारी दफ्तरों में भी काम करते हैं। कड़ाके की सर्दी तथा भारी हिमपात के कारण पंगवाल लोग आमतौर पर खरीफ की फसलें ही बोते हैं । इसके अतिरिक्त पंगवाल लोग सर्दियों के मौसम में रंग-बिरंगी चादरें, थोबी, पट्टी तथा घास की पूलें बनाने का काम करते हैं । इस प्रकार पांगी क्षेत्र के लोगों की दिनचर्या, खान-पान तथा रीति-रिवाजों और रहन-सहन से मालूम होती है कि पंगवाल जन-जीवन एक संघर्ष का जीवन है लेकिन इस के बावजूद भी पंगवाल लोग अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए संघर्षरत हैं । पांगी के लोक गीत, लोक नाच से हमें पंगवाल लोगों की सामाजिक जीवन की झलक देखने को मिलती है। पांगी के लोक गीत आम तौर पर पांगी क्षेत्र की सुन्दरता का उल्लेख करने पर आधारित है । वैसे पांगी क्षेत्र में धार्मिक गीत, विवाह गीत तथा प्रेम गीत भी गाये जाते हैं । जैसे कि इस लोक गीत में पांगी घाटी की खूबसूरती को दर्शाया गया है । पंगवाल लोगों का अपने इलाके के प्रति बहुत प्यार है क्योंकि पांगी क्षेत्र तिलमिली पानी, ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों, ठंडे पानी, साच पास तथा खूबसूरत भोले-भाले इमानदार तथा मेहनत कश लोगों की बजह से बहुत मशहूर है । इस लोक गीत में भी गायक ने पांगी की खूबसूरती को बताया है ।

" पांगी सुणान्दे तिलमिली पाणी, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे ऊंचे-ऊंचे पहाड़ा, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे ठंडा-ठंडा पाणी, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे साचे रा जोता, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे ऐलवे सरापा, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे भले-भले माणू, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे भोटड़ी रा नाचा, मेरा दिल लागा पांगी हो ।
पांगी सुणान्दे बड़े-बड़े लोका, मेरा दिल लागा पांगी हो ।

एक अन्य लोक गीत में गायक ने अपने मन की बात को प्रकट किया है जिस का उल्लेख इस गीत में पाया जाता है ।

"धारो धार चलणा हो, मन मेरा राजी रखणा हो ।
इक मन मेरा बोलदा हो, दिलदारे नाल रहणा हो ।
दूजा मन मेरा बोलदा हो, भाई चारे नाल रहणा हो ।"

हरे भरे पहाड़ों की घाटियों में बादियों में घूमने को मेरा जी मचलता है । एक मन तो मेरा कहता है कि अपने प्रियतम के पास कहीं दूर चली जांऊ लेकिन फिर मेरा मन यही कहता है कि मैं अपने लोगों के बीच ही रहूँ । पांगी के लोक गीत बहुत आकर्षक तथा मन मोहक होते हैं । पांगी के लोगों का अपने क्षेत्र तथा लोगों से बहुत प्यार है । पांगी क्षेत्र में धार्मिक गीत भी गाये जाते हैं जैसे कि :-

" अगी पातो रा धूपा हो । जाणा त्रिलोके नाथा हो ।
अगी पातो रा धूपा हो । खदलो बले बले जाणा हो ।
अगी पातो रा धूपा हो । त्रिलोके दर्शन जाणा हो ।
अगी पातो रा धूपा हो । त्रिलोके दिया भराणा हो ।

यह गीत श्रद्धालुओं के लिए गाया जाता है जो कि त्रिलोक नाथ मन्दिर पूजा करने के लिए जाना चाहते हैं । त्रिलोक नाथ का प्रसिद्ध मन्दिर लाहुल में है । इस गीत का भाव यह है कि त्रिलोक नाथ मन्दिर जाने के लिए रास्ता बहुत खराब है और धूप भी बहत तेज़ है । इस लिए बड़ी सावधानी से दर्शन करने के लिए जाना चाहिए । एक दूसरा लोक गीत जो कि पांगी में बहुत प्रचलित है । इस लोक गीत को आम तौर

पर विवाह के अवसर पर मेहमानों के लिए गाया जाता है :—

"भले मांणुआ हो भले तुम्हारी शौका हो ।
भले मांणुआ हो भले तुम्हारी इज्जतां हो ।
भले मांणुआ हो भले तुम्हारी नाटा हो ।
भले मांणुआ हो भले तुम्हारी ढोला हो ।
भले मांणुआ हो भले तुम्हारी गाला हो ।
भले मांणुआ हो भले तुम्हारी शोंका हो ।"

इस लोक गीत में पांगी के लोगों की प्रशंसा की गई है । इस गीत का भाव यह है कि ग्रो अच्छे पांगी के लोगो, तुम्हारा बड़ा ऊंचा चरित्र है, तुम्हारा बड़ा भारी मान सम्मान है, तुम्हारे नृत्य बहुत मन मोहक हैं, तुम्हारे ढोल की आवाज़ बड़ी ग्रार्कषक है ग्रौर तुम्हारे बातचीत करने का ढंग बहुत अच्छा है। इसके अतिरिक्त पांगी में विवाह गीत भी गाये जाते हैं। जैसे कि

"लाड़े लाड़ी दा हो ब्याह लगदा हो ,
गंगा पहाड़ा दा हो वामण सादे हो ।
गगा पहाड़ा दा हो चनण मांगे हो,
उस चनणा दा हो तिलक चढांदे हो ।
लाड़े लाड़ी दा हो वेदी फेरे हो ।

इस गीत का भाव यह है कि पति–पत्नी का विवाह रचाया जा रहा है। इस के लिए बहुत दूर से ब्राह्मण बुलाये गये हैं जो कि विवाह की रस्म को पूरा करेंगे। पांगी क्षेत्र में प्रेम गीत भी बहुत गाये जाते हैं जिन में से कुछ एक इस प्रकार हैं :—

मधु :— मेरी भोटलिये जोता पर बंगला पवाणा हो ।
भोटलिये :— मधु गाड़ा हो बंगले जो शीशे लवाणे हो ।
मधु :— प्यारी भोटलिये चफिरदे रखाणे हो ।
भोटलिये : — मधु गाड़ा हो बन्द बणा धाली जो जाणा हो।

इस लोक गीत का भाव यह है कि मधु गादी अपनी प्रेमिका भोटली को कहता है कि उनकी शादी के बाद वे पहाड़ के ऊपर एक खूबसूरत बंगला बनायेंगे उनका प्यार अमर है ग्रौर जब उनकी शादी होगी वे

बहुत सी चीजें इक्कठी करेंगे अपनी गृहस्थी बसायेंगे एक दूसरा प्रेम गीत इस प्रकार है :—

मेरा दिला तेरे कने थिया ता तेरा दिला होरती लगोरा हो,
उठ खड़ी चल परदेशा जो मोटरे री सैल करान्दे हो।

इस प्रेम गीत का भाव यह है कि प्रेमी अपनी प्रेमिका को कहता है कि उस का आधा दिल कहीं दूसरे के साथ है क्योंकि प्रेमी का दिल प्रेमिका के साथ था तो प्रेमिका का दिल किसी दूसरे के साथ लगा है इसलिए प्रेमी अपनी प्रेमिका को कहता है कि आओ हम प्रदेश को चलें जहां पर हम मोटर तथा रेलगाड़ी की सैर करें।

लोक गीतों के अतिरिक्त पंगवाल लोग लोक नाचों के भी बहुत शौकीन हैं। मर्द तथा औरतें अलग-अलग नाचती हैं। औरतें अपना ग्रुप बना कर तथा मर्द अपना ग्रुप बना कर इक्कठे नाचते हैं। एक दूसरे का हाथ पकड़ कर तथा कदम से कदम मिला कर जो नाच नाचा जाता है उसको स्थानीय भाषा में घुरेई कहा जाता है। घुरेई का नाच आमतौर तो औरतें करती हैं। इस नाच को नाचते हुए कई प्रकार के धार्मिक तथा अन्य गीत गायें जाते हैं। आमतौर पर घुरेई का नाच मेलों, त्यौहारों तथा शादी विवाह के अवसर पर औरतों द्वारा हर गांव में किया जाता है। औरतें भी दो ग्रुप बना कर इस नाच को नाचती है। घुरेई के गीतों की भी तर्ज अपने ही किस्म की होती है, धीमी गति से यह घुरेई का नाच नाचा जाता है।

आज का सभ्य समाज दहेज की रस्म पर हर रोज दुःख के आंसू बहाता है, पति-पत्नी के मन मुटाव को दूर करने के लिय कई कायदे कानून बनाता है। अपने घरेलू जीवन में परिवर्तन लाने के लिए शरण में भागता है लेकिन पाँगी क्षेत्र के लोगों ने बहुत पहले से अपने घरेलू जीवन को सुखी बनाने तथा दहेज जैसी कुरीतियों से बचने का प्रबन्ध अपने रहन-सहन तथा रीति-रिवाज के नियम बना कर रखे हैं। पांगी के सामाजिक जीवन में जात-पात का कोई महत्व नहीं है। ऊंची जात में ब्राह्मण तथा राजपूत आपस में शादी विवाह करते हैं। लड़का हमेशा अपनी पसन्द की लड़की से शादी करता है। जब लडका लड़की

आपस में शादी के लिए राजी हो जाते हैं तो आगे की रस्म दोनों के माता पिता द्वारा पूरी की जाती है। पांगी क्षेत्र में शादी की रस्म तीन अवस्थाओं में पूरी की जाती है।

(1) **पिलम की रस्म** :– किसी तीसरी पार्टी द्वारा लड़के के माता-पिता लड़की के मां–बाप तक रिश्ते की बात करते हैं। यदि लड़की के माता पिता सहमत हो जांये तो दोनों ओर से एक दिन निश्चित करते हैं। उस निश्चित दिन को लड़का अपने तीन–चार सगे सम्बन्धियों के साथ लड़की वालों के घर जाता है। लड़के वाले अपने साथ कुछ शराब' हलवा तथा पूरी और एक जेबर भी ले जाते हैं। लड़की के परिवार के सभी सदस्य इस पार्टी में शामिल होते हैं। बाद में लड़की उस जेबर को स्वीकार करती है जो उसके लिये लड़के ने लाया होता है। इस समारोह को स्थानीय भाषा में पिलम कहते हैं क्योंकि लड़की द्वारा उस जेबर को स्वीकार करना शादी के लिये लड़की के मां–बाप की सहमति को जाहिर करता है। यह रस्म एक दिन में पूरी की जाती है। पिलम की रस्म शादी से अधिक महत्व पूर्ण है क्योंकि इस दिन के बाद लड़की कानूनी तौर पर लड़के की पत्नी मानी जाती है लेकिन फिर भी लड़की अपने मां-बाप का घर छोड़ नहीं सकती जब तक कि अन्तिम शादी की रस्म पूरी नहीं हो जाती। अगर इस दौरान लड़की के कोई सन्तान पैदा हो जाती है तो लड़का उस का कानूनी बाप कहलाएगा।

(2) **फक्की** :— पिलम के बाद फक्की की रस्म पूरी की जाती है। एक साल के बाद दोनों पार्टियों द्वारा फक्की की रस्म को पूरा करने के लिये फिर एक दिन निश्चित किया जाता है। इस लड़के वालों के साथ एक मध्यस्थ आदमी जिसे स्थानीय भाषा में दिवान कहते हैं जो प्राय: लड़के का रिश्तेदार या गांव का सम्मानित व्यक्ति होता है। इस दिन भी लड़के वाले फिर शराब, हलवा तथा पूरी बगैरा लड़के वाले के घर ले जाते हैं और रात को वहीं पर ठहरा जाता है। लड़की वाले भी अपने गांव के सभी लोगों तथा रिश्तेदारों को इस पार्टी में बुलाते हैं। और दूसरे दिन सभी अपने–अपने घरों को चले जाते

हैं। अगर लड़का वहां पर ठहरना चाहे तो वह उस दिन रह सकता है। इस फक्की के बाद शादी की रस्म पूरी की जाती है। दुल्हा-दुल्हन के घर बरात लेकर जाता है जिस में दो मुख्य व्यक्ति होते हैं एक दिवान तथा दूसरा पटमाराह् जो दुल्हे का चचेरा भाई होता है पटमाराह् एक स्थानीय नाम है जो चचेरे भाई को दिया जाता है जो कि शादी की कुछ रस्में पूरी करता है। पटमाराह अपने साथ एक तलवार लेता है और ऐसा माना जाता है कि यह तलवार दुल्हे की भूत-प्रेतों से रक्षा करती है। रात के समय आगे-आगे दिवान तथा उसके बाद पटमाराह् चलते हैं। और शादी की सभी रस्में पूरी की जाती हैं। वैसे पंगवाल समाज में दहेज की कोई प्रथा नहीं है। फिर भी लड़की के मां-बाप तथा सगे सम्बन्धी कुछ चीजें उपहार के रुप में अवश्य देते हैं जिन में गाय भेड़ बकरी, जेबरात तथा बर्तन बगैरा शामिल हैं।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की शादी की प्रथा भी पांगी क्षेत्र में अब कहीं-कहीं पर प्रचलित है जिसे स्थानोय भाषा में पिठचुक भी कहते हैं यानि कि जबरदस्ती से शादी करना। जब लड़का तथा लड़की आपस में प्रेम करने लग जाते हैं तो दोनों अपनी शादी होने में कुछ कठिनाईयां महसूस करते हैं तो उस हालत में लड़का लड़की को भगा ले जाता है इसके लिए मेले सबसे बढ़िया मौके माने जाते हैं। लड़का लड़की पर कड़ी नज़र रखता है और मौका मिलने पर वह लड़की को जबरदस्ती अपने घर पर ले आता है। ऐसा करने पर लड़की का चीखना-चिलाना केवल मात्र एक दिखावा होता है। अगर लड़की के मां-बाप तथा दूसरे सम्बन्धियों को ऐसा पता लग जाये तो वे उसी समय हस्तक्षेप नहीं करते। तीन-चार दिन के बाद लड़की का पिता या कोई रिश्तेदार लड़की को पूछने आता है अगर लड़की अपनी सहमति से लड़के के साथ भाग कर आई हो तो इस पर कोई कदम नहीं उठाया जाता। इस के बाद लड़के का पिता अपने दो-तीन सम्बन्धियों के साथ लड़की वाले के घर जाता है और वहां पर दोनों पार्टियां आपस में बैठ कर इस पहलू पर विचार विमर्श करते हैं वार्तालाप कई बार कुछ गर्म भी हो जाता है परन्तु आखिरकार लड़की वाले शादी के लिए सहमत हो ही जाते हैं। उसके बाद दुल्हन अपने पति के साथ अपने मां-बाप के घर

जाती है । वह वहां कुछ दिनों के लिए ठहरती है और बाद में अपने पति के साथ फिर वापस आ जाती हैं । उसके पश्चात् फिर शादी की रस्म पूरी की जाती है । इस प्रकार पांगी क्षेत्र में प्रचलित मेले, त्यौहार, रीतिरिवाज, संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान तथा लोकगीत व लोक नाच से पंगवाल लोगों के जीवन की एक सच्ची झलक देखने को मिलती है । धर्म और परम्पराओं के प्रति पांगी क्षेत्र के लोगों के मन में बड़ा सम्मान है । पांगी के लोगों का अपने क्षेत्र तथा धर्म संस्कृति से अथाह प्रेम है । पंगवाल लोग बहुत भोले-भाले, ईमानदार और मेहनत कश होते हैं । पंगवाल अपने खाली समय को कभी भी बरबाद नहीं होने देते, उस समय का सद्पयोग कताई तथा बुनाई करके करते हैं । पंगवाल लोग कभी झूठ नहीं बोलेंगा । इस प्रकार पंगवाल लोगों का जीबन एक संघर्षपूर्ण जीवन से कम नहीं है फिर भी पंगवाल लोग हर मुसीबत का सामना बड़े हंस-मुख से बनकर करते रहे हैं ।

चम्बा के त्यौहार तथा मेले

— हरि प्रसाद सुमन

देव-भूमि हिमाचल प्रदेश में यूं तो सदैव ही गीत,-वाद्य तथा नृत्य की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है, किन्तु प्रकृति की रम्य स्थली जिला चम्बा तो मेलों, त्यौहारों तथा यात्राओं के हर्षोल्लास से पूरे बर्ष भर मस्त व व्यस्त रहता है। प्रस्तुत लेख में चम्बा जन-मानस की इसी सामाजिक, धार्मिक तथा लोक संस्कृति की अमूल्य धरोहर को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाएगा। चैत्र मास से ही जब प्रकृति मधु ऋतु के उन्माद से मादक बन कर अंगड़ाई लेने लगती है तो यहां घर-घर चैत्र संक्रान्ति से ढोलक पर ढोलरु के स्वर सुनाई देने लगते हैं। इनमें प्रथम चैत्र से आठ चैत्र तक डूम जाति के लोग घर-घर चैत्र मास का नाम सुनाते हैं तथा मक्की के दाने व पुराने वस्त्र मांग कर गीत सुनाते हैं। ढोलरु में नारायण का नाम, माता-पिता की वन्दना तथा मास का नाम सुनाया जाता है। मरुआ गीत तथा कुल्ह की गाथा भी सुनाई जाती है जिसमें चम्बा की रानी सुनयना के बलिदान की करुण कहानी से श्रोताओं के नयन आंसुओं से भीग उठते हैं। ढोलरु के बाद चम्बा नगर में योग यात्रा प्रारम्भ हो जाती है इसमें योगी राज चर्पट नाथ के वंशज सिद्धासन में बैठ कर चर्पट नाथ का ध्यान करते हैं। चर्पट नाथ चम्बा राज्य के संस्थापक शैल वर्मा के आध्यात्मिक परामर्श दाता थे। 20 चैत्र को इनकी स्मृति में चौगान में नाथ सम्प्रदाय के युवक गेंद खेलते हैं। आज-कल इस मेले को नया रूप देकर इसमें हाकी फुटबाल के खेल आयोजित किये जाते हैं। 19 चैत्र को जागरण होता है 20 चैत्र को यह मेला सुसम्पन्न होता है तथा दर्शकों को चूरमा प्रसाद के रूप में बांटा जाता है।

सूही मेला :— योग यात्राएं समाप्त होते ही 15 चैत्र से सूही का मेला प्रारम्भ हो जाता था जो तीन किश्तों में समाप्त होता था। पहले पांच दिन वरवाल अनुसूचित जाति की महिलाएं सूही के मढ़ पर जाकर सफाई, लिपाई–पुताई करती थीं तथा घुरेई डालती थीं फिर अगले पांच दिन लड़कियां सूही देवी के प्रांगण में घुरेई नृत्य करती थीं और फिर अन्तिम पांच दिन चम्बा नगर की सभी महिलाएं तथा आस–पास के ग्रामों की महिलायें जाकर मेले में सम्मिलित होती थीं। इन पांच दिनों में राज परिवार की महिलाएं भी सम्मिलित होती थीं इसके अतिरिक्त भरमौर क्षेत्र की गद्दी जन–जाति की महिलाएं भी अपनी परम्परा गत वेशभूषा में सुसज्जित होकर घुरेई लोक–नृत्य करती थीं, पांच दिन उन्हें सामिष भोज भी कराया जाता था जिसका व्यय राजकोष से किया जाता था।

इतिहास :— सूही मेला चम्बा राज्य के संस्थापक शैल बर्मा की रानी सुनयना देवी के आत्म त्याग की पावन स्मृति में मनाया जाता है जिसने नगर वासियों को पानी पहुंचाने के लिए अपना बलिदान दिया था इस मेले में केवल महिलाएं ही भाग लेती थीं कोई पुरूष इसमें भाग नहीं ले सकता था। आजकल मंहगाई के कारण यह मेला अब केवल चैत्र के अन्तिम तीन दिन लगता है। और गद्दी महिलाओं को भी तीन दिन ही निरामिष भोज दिया जाता है। चैत्र की अन्तिम रात को सुकरात (सुख रात) कहा जाता है। इस सम्बन्ध में सुकरात लोक गीत भी गाया जाता है इसके बोल इस प्रकार हैं।

सुकरात कुड़ियो चिड़ियो, सुकरात राजे रे बेहड़े हो
सुकरात कुड़ियो चिड़ियो, सुकरात देवी रे देहरे हो
सुकरात कुड़ियो चिड़ियो, सुकरात नौणा पाणिहारे हो
सुकरात कुड़ियो चिड़ियो, सुकरात लक्ष्मी नारायणा हो
ठंडा पाणी कियां करी पीणा हो?
तेरे नैणा हेरी हेरी जीणा हो।

यह मेला दोपहर 2 बजे से सायं 7 बजे तक चलता है। सड़क से ऊपर मढ़ तक सैकड़ों सीढ़ियों पर रंग–बिरंगे वस्त्रों से सुसज्जित महिलाएं परस्पर गले मिलती हैं।

तथा मीठी सुकड़ी, खट्टे आलू, करारे पापड़, ठंडी कुल्फी, खट्टे रौंग, आदि चीजें खाती हैं। नववधुएं मीठे या नमकीन चावलों की बटोही (बर्तन) ले जाकर अपनी सहेलियों को खिलाती हैं और देवी से अखण्ड सौभाग्य की कामना करती हैं। खट्टी मीठी चाट की तथा श्रृंगार सामग्री की अनेक दुकानें लगती हैं। बच्चे खिलौने तथा रंगबिरंगे बैलून व बाजे बजाते हुए अपना मनोरंजन करते हैं।

बसोआ :— सूही मेला समाप्त होते ही अगले दिन बैशाख संक्रान्ति का त्यौहार सारे चम्बा जिला के घर–घर में मनाया जाता है। प्रातः ही सब लोग स्नान पूजन करके घटदान करते हैं। जलपूर्ण घटदान के साथ हरे चने भी दान किये जाते हैं और ब्राह्मणों को या देव–मन्दिरों में दिये जाते हैं। दोपहर को पुत्रियों तथा जवाईयों को भोजन अवश्य कराया जाता है। पुराने परम्परागत परिवारों में कोदरे के आटे की बनी टिकियां जिन्हें पिन्दड़ी कहते हैं खाई व खिलाई जाती हैं। इन्हें गुड़, शहद या गुड़ मिले दूध के साथ खाया जाता है। तीन दिन पहले ही ये टिकियां बनाई जाती हैं और संक्रान्ति के दिन ये खट्टी हो जाती हैं। आयुर्वैदिक दृष्टि से ये पित्तशमन के लिये औषधि का काम करती हैं। जिन लड़कियों को लोहड़ी या बैशाखी के दिन पिता के घर से बुलावा नहीं आता उन्हें भाग्य हीन समझा जाता है। इस रात को भी महिलाएं घुरेही गीत गाती तथा नृत्य करती हैं। ग्रामों में भी महिलाएं इस दिन परस्पर पिन्दड़ी का आदान-प्रदान करती हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ा धार्मिक लोक–गीत गाया जाता है —

पिन्दड़ी ता पिन्दड़ी अम्मा अप्पु खाये, पिन्दड़ी रे पट्ठे मिंजो भेजे हो।
आया बसोआ अम्मा पंजे सत्तें, हो माऊए जो सादा भेजे हो।

साहो तथा चामुण्डा यात्रा :— बैशाख संक्रान्ति के बाद चम्बा नगर में सूही माता के मन्दिर के ठीक सामने चामुण्डा माता का मन्दिर है। जहां 5 बैशाख को चुराह तहसील से उसकी बहिन बैरागढ़ की बैरेवाली देवी भी अपने पुजारी तथा लोक–नर्तकों व लोक वादकों के साथ आ जाती है। 16 बैशाख को यहां भी चामुण्डा देवी के प्रांगण में यात्रा होती है। हजारों नर–नारी एकत्र

होते हैं। श्रद्धालु लोग प्रातः ही यहां प्रसाद चढ़ाते हैं। दोपहर दो बजे से मेला भरने लगता है। नरसिंह मन्दिर से चमुण्डा मन्दिर तक पत्थर की सीढ़ियां बनी हैं। इन्हें रानी शारदा ने बनवाया था। चामुण्डा मन्दिर तथा सूहो मन्दिर से चम्बा नगर का सारा दृश्य दिखाई देता है बैरागढ़ के लोकनर्तक अपने लोक वाद्यों के साथ यहां घुरेही तथा नाटी नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं। सायं सात बजे के करीब मेला समाप्त होता है। यहां बैरागढ़ के दल को लक्ष्मीनारायण मन्दिर की ओर से भोज दिया जाता है। पहले राज भवन में भी इन्हें भोज दिया जाता था, अब कई नागरिक भी भोज देते हैं। अगले दिन बैरे वाली भगवती चुराह के लिए प्रस्थान कर देती है।

15-16 बैशाख को चम्बा से 19 कि० मी० की दूरी पर साहो नामक स्थान पर साहो यात्रा होती है। साहो एक सुन्दर स्थान है। यहां चन्द्रशेखर महादेव का सुन्दर मन्दिर है। मन्दिर के सामने काले पत्थर की नन्दी बैल की सुन्दर मूर्ति है तथा बीच में विशाल प्रांगण है। एक बड़ी धर्मशाला तथा लक्ष्मी नारायण का मन्दिर है। यहां एक उच्च पाठशाला डाकघर, पंचायत भवन, औषधालय, पशु अस्पताल,महिला कल्याण केन्द्र, वन विभाग का विश्राम गृह तथा कई दुकाने हैं। मन्दिर का शिवलिंग बहुत विशाल है। इस मन्दिर को राजा पृथ्वी सिंह ने बनवाया था। लिंग पीठ की ऊंचाई चार फूट है। कहते हैं कि यह लिंग साल नदी के किनारे पड़ा मिला था और जब इसे उठाने लगे तो किसी से हिलता नहीं था अन्त में स्वप्न हुआ कि इसे कोई पतिव्रता स्त्री ही उठा सकती है। तब नदी के पास चूला ग्राम की कुम्हारी ने उसे उठाकर पालकी में रख दिया और आठ आदमी बड़ी कठिनाई से पालकी उठाकर मन्दिर तक ला सके। जब लिंग स्थापित करके मन्दिर का निर्माण शुरू हुआ तो प्रतिदिन लिंग बढ़ने लगा और छत तक पहुंच गया। अन्त में स्वप्न हुआ कि काम बन्द कर दो अन्यथा मैं छत फाड़ कर निकल जाऊंगा। अतः काम बन्द कर दिया गया और सारी पीठ को ताम्बा लगाकर ढक दिया गया। यह ताम्बा भी वंजल नामक स्थान से निकाला गया था जो साहो से चार मील पीछे है। 16 वैशाख की दोपहर को

मन्दिर का सारा प्रांगण रंग-बिरंगे वस्त्रों की तरह आभा से ऐसा दिखाई देता है मानों श्राकाश का सतरंगी इन्द्र धनुष धरती पर श्रा गया हो, साहो के श्रादि वासी अपनी गद्दी बेशभूषा चोला डोरा व रेशमी रूमाल हाथों में लेकर भस्मासुर दहन नृत्य करते हैं। स्त्रियां घुरेही नृत्य करती हैं। लोकवाद्य शहनाई, नगारे, ढोल, रणसिंहा श्रौर बांसुरी नृत्य की लय को बनाये रखते हैं। महिलाएं प्रथम बैशाख की रात्रि से ही घुरेही नृत्य आरम्भ कर देती हैं आखिर भगवान शंकर नटराज जो ठहरे। इस मेले में महिलाओं के बीच में यदि कोई पुरूष बैठ जाए तो उसे बिच्छु बूटी (एहण) छुआ कर उठा दिया जाता है। सांय 4 बजे के बाद यहां चेला कांपता है जो यात्रियों को प्रसन्नता या श्रप्रसन्नता की भविष्य वाणी करता है।

खजियार जात्र : — जिला चम्बा में खजियार एक सुरम्य प्राकृतिक क्षेत्र है। यहां एक सुन्दर झील तथा नाग देवते का मन्दिर है। जहां वर्ष में चार बार जागरण (जगराता) होता है। ज्येष्ठ मास की चतुर्थी का जगराता विशेष प्रसिद्ध है जगराते के दूसरे दिन नागपंचमी को मेला लगता है जिसमें सैकड़ों लोग एकत्रित होते हैं और नाग देवता को दूध घी से स्नान करवाते हैं। मन्दिर देवदार की लकड़ी से बना है इसके स्तम्भों तथा छत्त पर सुन्दर नक्काशी की गई है। सुप्रसिद्ध विदेशी विद्वान हरमन गोट्स ने अपनी पुस्तक 'श्रर्ली वुडन टेम्पल इन चम्बा' में इसका विशेष उल्लेख किया है। हजारों पर्यटक प्रतिवर्ष यहां आते हैं श्रौर यहां के मनोरम प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आनन्द विभोर हो उठते हैं। मेले के दिन यहां सैकड़ों लोग एकत्रित होते हैं। सायं नाग देवता का चेला कांपता है श्रौर यात्रियों को भविष्य वाणियां करता है। इस नाग को खज्जी नाग कहा जाता है यहां नाग की मूर्ति मानवाकृति की है। मन्दिर के पास हो सरकारी विश्राम गृह तथा डाक बंगला व माध्यमिक पाठशाला है, श्रास-पास देवदार के घने जंगल हैं। कहते हैं इस नाग को इसके भाई ने शत्रुओं से मारने से बचाया था और श्रन्त में यहां छोड़कर कहा था 'ले अब खा! जी! यार!' श्रतः इस स्थान का नाम खजियार पड़ गया।

बाड़ी देहरा जात्र :— चम्बा नगर से पांच किलो मीटर दूरी पर बाड़ी देहरा नामक एक सुन्दर स्थान पर एक जालपा पीठ है जिसे बाड़ी वाली भगवती कहते हैं। प्रथम आषाढ़ को चम्बा के प्राय: सभी शक्तिपीठों में भगवती के जगराते होते हैं। जिन्हें 'मैमते' का जागरा कहते हैं इस दिन आधी रात के समय देवो का चेला अपनी सीमाओं पर प्रदक्षिणा करने जाता है। उसे तिलक लगाकर हाथ में धूप दान, पांव में घुंघरू, गले में छोटी-छोटी अनेक घण्टियां बांधकर कांपते हुए प्रदक्षिणा के लिये भेजा जाता है, इसे फेरा कहते हैं। एक हाथ में जलता हुआ धूप-दान तथा दूसरे हाथ में लोहे का एक भारी त्रिशूल देते हैं। यह उसे लेकर चम्बा शमशान तथा किहाड़ी के शमशानघाट पर जाकर त्रिशूल गाढ़ देता है और फिर 3 आषाढ़ को देवी के मन्दिर में यात्रा(मेला)लगता है। भगवती का सुन्दर श्रृंगार किया जाता है श्रद्धालु प्रातः से ही धूप दीप नैवेद्य चढ़ाने के लिये ले जाते हैं। दोपहर को मेला खूब भर जाता है, सायं 4 बजे के बाद देवी का चेला फिर कांपता है और यात्रियों को देवी संदेश देता है। यह देवी प्रत्यक्ष चमत्कारी है अतः इसकी बहुत मान्यता है अब इस स्थान को पर्याप्त सुन्दर बना दिया गया है। मन्दिर की दीवारों पर सुन्दर भीत्ति चित्र बनाए गये हैं। मन्दिर के आगे सुन्दर प्रांगण बनाया गया है साथ ही धर्मशाला, पानी का नल, बिजली की सुविधा और फूल, फलदार तथा छाया दार पौधे लगा कर इसे एक सुन्दर पर्यटन स्थल बना दिया गया है। रविवार को लोग यहाँ पिकनिक करने आ जाते हैं।

मैहला जात्र :— इसके बाद चम्बा नगर 14 कि० मी० की दूरी पर चम्बा भरमौर मार्ग पर मैहला नामक स्थान पर जहां हिडिम्बा देवी तथा जालपा देवी के दो प्राचीन शिखर शैली के मन्दिर हैं में भी 9 आषाढ़ को भारी मेला लगता है। आठ को छोटी जातर तथा 9 को बड़ी जातर। मैहला भी एक दर्शनीय स्थान है। रावी के किनारे बसा एक सुन्दर कस्बा यहां भी एक उच्च पाठशाला, हस्पताल, डाकघर सरकारी विश्राम गृह, भेड़ पालन केन्द्र, तथा महिला कल्याण केन्द्र है। कई दुकानें व फलदार वृक्ष हैं सरकारी कोठी व पंचायत तथा वन विभाग के विश्राम गृह भी हैं। किसी समय मैहला खुमानियों के लिए

प्रसिद्ध था और इस मेले में लोग खुमानियों की गिरियों के हार बनाकर बेचते थे। 1945 में नाले की बाढ़ से कई मकान मनुष्यों तथा पशुओं सहित बह गये थे पर्याप्त भूमि व बाग भी बह गये थे। इसके बाद दोबारा यह स्थान बस रहा है।

जमुहार जातर :— मैहला यात्रा के बाद चम्बा नगर के पूर्व में जमुहार नामक एक सुन्दर देवदार के घने जंगलों तथा सेब के बागों से भरा स्थान है यहां नाग देवता का सुन्दर प्राचीन मन्दिर है। राजा साहिब की एक कोठी है यहाँ भी आषाढ़ चतुर्थी को नाग मन्दिर में रात को जागरा तथा दूसरे दिन पंचमी को यात्रा होती है। हजारों लोग नाग देवता को घी दूध चढ़ाते हैं। यहां लोहे की असंख्य त्रिशूलें व नाग बने हैं जो श्रद्धालुओं द्वारा चढ़ाये गये हैं। परगना पंजला के सभी लोग वर्षा न होने पर इस नाग के पास जाते हैं।

करंगड़ यात्रा :— मन भावन सावन के आने पर 4 सावन को चम्बा साहो मार्ग पर करंगड़ नामक स्थान पर नाग देवता के मन्दिर में एक भारी मेला लगता है। करंगड़ कर्कोटक का अपभ्रंश प्रतीत होता है जो किसी समय मानव गुजरात से राजस्थान तथा पंजाब तक फैले हुए थे। मत्स्य पुराण में भी इसका उल्लेख मिलता है।

एष नागः मनुष्येषु महिषमत्यां महाधुति।
कर्कोटक सुतं जित्वा पुर्यां तत्र न्यवेशयत्॥

भविष्य पुराण में भी इसका उल्लेख इस प्रकार है —

सहिनाग! सहस्त्रोण महिस्मत्यां नराधिप:।
कर्कोटक सभां जित्वा पुरी तत्र न्यवेशयत्॥

कार्तवीर्यार्जुन ने कर्कोटक नागों को पराजित करके उत्तर के पहाड़ों की ओर खदेड़ दिया था। परगना गुदयाल के लोग वर्षा के लिये इसी नाग देवता की शरण में जाते हैं।

घुर्डाहर जात्रा :— करंगड़ के पीछे घुर्डाहर नामक गांव में 5 श्रावण को यात्रा होती है। यहां देवी शीतला का मन्दिर है। घुर्डाहर गरुड़-आहार का अपभ्रंश है। नागों तथा गरुड़ों की शत्रुता प्रसिद्ध है। इस मेले में भी

सैंकड़ों लोग एकत्रित होते हैं। यहां सेब बहुत बिकते हैं। यहां द्वार महादेव का एक प्रसिद्ध शिव मन्दिर है जो एक रात में निर्मित हुआ था। मन्दिर पत्थर का बना है और बहुत सुन्दर चित्रकला उत्कीर्ण है। इसकी कला देखने योग्य है, आजकल इसकी बहुत दुर्दशा है।

बैरा जातर :–यह मेला तहसील चुराह का प्रसिद्ध मेला है जो 8 श्रावण से 9 श्रावण तक बैरागढ़ में भगवती बैरवाली के मन्दिर में लगता है। इस मेले में हज़ारों नर–नारी सम्मिलित होते हैं। चुराही पुरुष तथा महिलाएं अपने लोक वाद्यों के साथ मन्दिर के विशाल प्रांगण में चुराही नाटी तथा स्त्रियां घुरेही नृत्य प्रस्तुत करती हैं। 1954 में गणतन्त्र दिवस पर यहां के नर्तकों ने ही सर्वप्रथम चल विजयोपहार प्राप्त किया था।

मिंजर मेला : – श्रावण के तीसरे रविवार को हिमाचल का प्रसिद्ध मेला मिंजर चम्बा नगर में पूरे सप्ताह भर बनाया जाता है। दूसरे रविवार को चम्बा राज्य के कुल देवता श्री रघुवीर तथा श्री लक्ष्मी नारायण जी को मिठाई तथा ऋतु फलों के साथ मिंजर चढ़ाई जाती है। चम्बा चौगान में मिंजर मेले का ध्वज लहराया जाता है। विभिन्न खिलाड़ी दलों को शपथ दिलाई जाती है। पुलिस तथा होमगार्ड व एन० सी० सी० के स्वयं सेवक मुख्य अतिथि को सलामी देते हैं। नगर पालिका की ओर से सभी नागरिकों को सुनहरी तिल्ले की बनी मिंजरें भेंट की जाती हैं।

इतिहास : -- यह मेला राजा शैल वर्मा चम्बा राज्य के संस्थापक ने अपने राज्य विस्तार तथा विजयोत्सव के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया था क्योंकि चम्बा तथा कांगड़ा की जनता ने उन्हें विजय प्राप्त करने पर धान की मिंजरें भेंट की थी और राजा ने अपनी प्रजा को इसके बदले मंजरियां भेंट की थी। कुछ लोग इसे ख्वाजा पीर को प्रसन्न करने का उत्सव भी बताते हैं किन्तु यह निराधार किम्वदन्ती है, क्योंकि उस समय इस्लाम धर्म का उत्तरी हिमालय पर तनिक भी प्रभाव नहीं था। राजा शैव तथा शाक्त धर्म का अनुयायी रहा। रावी नदी की सारी वादी धानी

फसल से समृद्ध थी अतः इस उत्सव का सम्बन्ध धान की मिंजरों से ही था मक्की की मिंजरों से नहीं । मिंजर की आकृति भी धानी मिंजरों से मिलती है मक्की की मिंजर से नहीं ।

मेले का स्वरूप :— श्रावण के दूसरे रविवार से चम्बा चौगान में प्रातः से सायं तक हाकी, फुटबाल, वाली बाल, कबड्डी आदि के मैच होते हैं। रात को लोक सम्पर्क विभाग की ओर से सांस्कृतिक कार्यक्रम गीत संगीत, नाटक, सिनेमा, कव्वाली आदि के कार्यक्रम आयोजित होते हैं। नगर में अनेकों दुकानें, झूले, सर्कस, प्रदर्शनियां और कई प्रकार के खेल तमाशे होते हैं। तीसरे रविवार को घर-घर में पकवान बनाये जाते हैं, एक दूसरे को बांटे जाते हैं । दोपहर को सब लोग नये वस्त्र पहन कर चम्बा चौगान में जाते हैं । सांय 4 बजे अखण्ड चण्डी राजभवन से एक शानदार जलूस निकलता है जिसमें पुलिस, होम गार्ड, एन० सी० सी० के स्वयं सेवक लोक नर्तकों के दल, श्री रघुवीर, सूही देवी, चामुण्डा देवी शक्ति देवी वैरेवाली की पालकियां, लोक वाद्य वादकों के दल, राज्य ध्वज, स्वर्ण छत्र तथा स्वर्ण पंखा व सजे हुए घुड़सवार तथा चम्बा नरेश, प्रदेश के मन्त्रीगण, विधायक, नगरपालिका सदस्य तथा अन्य हजारों नागरिक जलूस के साथ अपने कोटों के साथ मिंजरें लटकाये चलते हैं। यह जलूस बड़ी शान के साथ मन्दगति से चौगान में से चलता हुआ रावी नदी के तट पर पहुंचता है, यहां एक शामियाने के नीचे बैठने का प्रबन्ध होता है। सब लोग यहां बैठते हैं। नगर पालिका की ओर से सभी अतिथियों को इतर व पान दिये जाते हैं। मिंजरें रावी नदी में प्रवाहित की जाती हैं और जलूस उसी प्रकार वाद्यों की ध्वनि को गूंजित करता हुआ वापिस आ जाता है । रात को फिर सांस्कृतिक कार्यक्रम दिखाये जाते हैं। मेले में हिमाचल, पंजाब, दिल्ली आदि अनेक स्थानों से लोग दर्शक तथा व्यापारी के रूप में आते हैं । अगले दिन विजेताओं को पुरस्कार दिये जाते हैं, ध्वज उतारा जाता है तथा मेला विसर्जित होता है। व्यापारियों की दुकानें कई-कई दिन तक लगी रहती हैं। कुंजड़ी तथा मल्हार इस ऋतु के प्रसिद्ध गीत हैं जो प्रति दिन रात को सुनाये जाते हैं। लोग घर में भी इन गीतों को गाते हैं। 1947 से पूर्व जीवित नर भैंसे

को रावी नदी में बहाया जाता था। यदि वह दूसरे तट से निकलता तो शुभ माना जाता था परन्तु यदि इधर वाले तट पर ही लगता तो अशुभ समझा जाता था। आजकल यह प्रथा बन्द है।

पतरोड़ :— भाद्रपद संक्रान्ति को पतरोड़ की सग्रांद कहते हैं, इस दिन कचालू (अरबी) के पत्तों पर बेसन लगाकर उन्हें पतरोड़े बनाकर तला जाता है और गेहूं के आटे की पूरियां अथवा बबरू बनाकर परस्पर खाये व खिलाये जाते हैं। प्राचीन परम्परा के लोग इस दिन पतरोड़ व अन्य वस्तुएं ब्राह्मणों को दान भी करते हैं, अपनी पुत्री तथा बहिनों के घर भी पतरोड़ू अवश्य दिये जाते हैं। इसी दिन से पितरों के प्रति रात को दीपदान भी आरम्भ किया जाता है जिसे 'दिये कमनारिये' भी कहते हैं। ग्रामों में भी यह प्रथा प्रचलित है किन्तु वहां इसे पितर पट्ठी कहते हैं। यह दीपदान पूरा भाद्रपद चलता है। यदि बीच में पितृपक्ष अर्थात् श्राद्ध आरम्भ हो जाएं तो दीपदान श्राद्ध समाप्ति पर अमावस तक चलता है। भरमौर क्षेत्र में गद्दी लोग इस दिन नाच, गान तथा सुरापा आदी का आयोजन भी करते हैं।

खुण्डी जातर :- भाद्रपद मास के प्रथम मंगलवार को साहो से पूरे दो दिन के सफर के बाद दुर्गम पर्वतीय क्षेत्र में खूण्डी मराली नामक स्थान पर यह मेला लगता है। इसमें भरमौर क्षेत्र के लिल्ह नामक परगना से भी यात्री आते हैं। कुछ लोग सिल्ला घराट के मेंगल नामक स्थान से यात्रा लेकर आते हैं। चाँजू (तहसील चुराह) से भी एक यात्रा आती है। इसमें सभी देवियों के प्रतिनिधि चेले आते हैं। खूण्डी में एक विशाल झील है यात्री इसकी केवल प्रदक्षिणा करते हैं स्नान करना यहां वर्जित है। चेले कांपते हैं और यात्रियों को भविष्य वाणियां करते हैं। एक यात्रा साहो क्षेत्र के सरा नामक स्थान से तथा दूसरी यात्रा औथला से भी जाती है। हजारों यात्री इस मेले में एकत्रित होते हैं। यहां से केवल आठ घण्टे की यात्रा में लोग लाहुल पहुंच सकते हैं।

बन्नी यात्रा :— भाद्रपद मास के तीसरे सोमवार को तहसील भरमौर के तुन्दाह परगने में, यात्रा होती है। यहां बन्नी देवी (महाकाली) का भव्य मन्दिर है। इस देवी के प्रति लोगों की अगाध श्रद्धा है। सब ओर

से निराश व्यक्ति भी यहां पहुंच कर मन वांछित फल प्राप्त करता है।

भरमौर यात्रा :— श्री कृष्ण जन्माष्टमी के दिन अर्थात् नवमी से अमावस तक भरमौर यात्राएं लगती हैं, ये जातरें शिव, नरसिंह, गणेश लक्षणा देवी, केलंग बज़ीर तथा शीतला देवी के नाम पर होती हैं। इसमें चौरासी के विशाल प्रांगण में गद्दी लोग पुरुष तथा महिलाएं सम्मिलित होकर अपनी परम्परागत वेश भूषा में लोक वाद्यों के साथ भरमौरी नाटी तथा घुरेही नृत्य करते हैं। दूर-दूर से लोग इस मेले को देखने के लिये भरमौर जाते हैं। इस मेले में ऊनी कम्बल, सेब, अखरोट बहुत बिकते हैं। सुरा पान भी खूब चलता है।

मणिमहेश मेला :— कृष्ण जन्माष्टमी के दिन भरमौर से दो दिन के पड़ाव पर मणिमहेश की डल झील पर साधु, योगी, सन्यासी स्नान करने जाते हैं। इसे योग न्हौण भी कहते हैं। डल झील के सामने बर्फ का चौगान है और उसके ऊपर कैलाश का हिमाच्छादित शैल शिखर है जिसके दर्शन करना पुण्य समझा जाता है। इस स्थान में पन्द्रह दिनों के बाद राधा अष्टमी के दिन बड़ा स्नान होता है जिसमें कांगड़ा, जम्मू-काश्मीर, चम्बा तथा पंजाब से हज़ारों यात्री स्नान करने आते हैं। पहले सारी यात्रा पैदल 7 दिन में पूर्ण होती थी किन्तु अब एक दिन में यात्री चम्बा से भरमौर बस द्वारा सुगमता से पहुंच जाता है। भरमौर से हड़सर तथा हड़सर से धन छो, और धन छो से वानर घाटी तथा भैरों घाटी की चढ़ाई चढ़ कर यात्री कैलाश पहुंच जाते हैं। यहां सप्तमी के दिन शिवजी के चेले डल झील में तैरते तथा भविष्यवाणी करते हैं। रात को जागरण होता है। लोग शिव महिमा का कीर्तन करते हैं व अष्टमी के दिन प्रातः ही स्नान करके शिव लिंग का पूजन करते हैं और अपनी-अपनी श्रद्धानुसार धूप, दीप, नैवेद्य, नारियल, फल आदि चढ़ाकर व भोजन करके शाम को भरमौर पहुंच जाते हैं। जन्माष्टमी के दूसरे दिन चम्बा से चर्पटनाथ की छड़ी चलती है मणिमहेश यात्रा का आधा चढ़ावा चर्पट नाथ के वंशज ले लेते हैं। कुछ श्रद्धालु लोग गंगाजल ले जाकर डलझील पर स्थित शिवलिंग पर चढ़ाते हैं। विश्वास है कि ऐसा करने से व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता। इसी दिन चन्द्रशेखर मन्दिर

साहो में, अणैला नामक ग्राम में पुखरी में तथा रावी नदी के किनारे त्रिलोचन महादेव के मन्दिर में भी रात को जागरण होता है। प्रातः लोग स्नान करके प्रसाद चढ़ाते हैं तथा खा पीकर घरों को वापिस लौटते हैं। हिमाचल पथ परिवहन निगम की ओर से कई स्पैशल बसें यात्रियों की सुविधा के लिए साहो व त्रिलोचन महादेव तक चलती हैं।

छतराड़ी जातर :— छतराड़ी चम्बा ज़िला का एक प्रसिद्ध शक्ति पीठ है। यहां आदि शक्ति का मन्दिर है। राजा छत्र सिंह ने देवी को छत्तीस लाहड़ी भूमि चढ़ाई थी, इसी से इसका नाम छतराड़ी पड़ गया। यह मन्दिर लकड़ी का बना हुआ है। कहते हैं पहले यह मन्दिर लकड़ी के एक स्तम्भ पर घूमता था किन्तु अब वह यन्त्र खराब हो गया है। इसे चम्बा के प्रसिद्ध शिल्पी गुग्गा ने बनाया था। लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी का काम है इसके कुछ नमूने भूरी सिंह संग्रहालय में भी सुरक्षित हैं। मेले का प्रमुख आकर्षण परम्परागत वेश भूषा में आदिवासी गद्दी पुरूषों तथा महिलाओं का सामूहिक नृत्य हैं जिसे देखने लोग दूर–दूर से आते हैं। यह मेला भाद्रपद शुक्ल दशमी को होता हैं।

तीसा गढ़ जातर :— यह मेला भाद्रपद शुक्ल दशमी से चतुर्दशी तक तीसा गढ़ की देवी चामुण्डा देवी के सम्मान में आयोजित होता है। इसमें मनमोहक चुराही नृत्य नाटी तथा घुरेही प्रदर्शित किये जाते हैं। नर्तकों की वेश भूषा दर्शनीय है। महिलाएं सिर पर जोजी, तन पर मखमली वास्कटें कमर पर सफेद दुपट्टा तथा टाँगों पर काली ऊनी दोहड़ और गले में चांदी के सवीह, चम्पाकली डोडमाला, हाथों में चांदी तथा कांच की रंग बिरंगी चूड़ियां पहन कर झूम–झूम कर नाचती हैं।

रथ रथणी का मेला :— यह मेला चम्बा नगर में भाद्रपद पूर्णिमा को जिस दिन पितृपक्ष आरम्भ होता है, मनाया जाता है चम्बा के शिव मन्दिर (चन्द्रगुप्त) के सामने मोहिनी के प्रतीक रूप में रथणी का श्रृंगार किया जाता है। उसे गोटे वाले वस्त्र, विष्णु का मुखौटा लगाया जाता है उधर हरिराम के मन्दिर में भस्मासुर के प्रतीक रूपी

रथ का निर्माण किया जाता है। एक फट्टे पर चार खूंटे डण्डे बांधकर उसके चारों ओर सफेद कपड़ा लपेटा जाता है तथा बीच में बिच्छू बूटी व कांटे आदि डालकर चम्बा चौगान के पास चौराहे पर रथ रथणी का मिलाप कराया जाता है। रथणी को उठाने वाले धोबी तथा रथ को उठाने वाले बटवाल अनुसूचित जाति के लोग होते हैं। मिलाप के बाद रथणी चम्पावति के मन्दिर में चली जाती है तथा रथ सारे नगर की परिक्रमा करके ज्यों ही चौगान में वापिस पहुंचता है उसे लोग लूट लेते हैं। कपड़े की चुन्दियां प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। सायं रथणी के द्वारा भस्मासुर का श्राद्ध कराया जाता है। जब रथणी की शोभा यात्रा निकलती है तो लोग रथणी के नीचे से बच्चों को निकालते हैं ताकि उन पर कोई अनिष्ट की बाधा न रहे। इस मेले का प्रबन्ध लक्ष्मी नारायण मन्दिर के अधीन है। रक्षा बन्धन की बन्धी राखियाँ भी इस दिन रथणी या रथ पर विसर्जित की जाती हैं। मेले से पूर्व रात्रि को जागरण किया जाता है। रथ यात्रा से पूर्व मेष बलिदान भी होता था अब मंहगाई के कारण नारियल ही भेंट किया जाता है।

आश्विन सक्रान्ति (सैरी) :— भादों की अन्तिम रात को अर्ध रात्रि के बाद शरद् ऋतु के स्वागत के लिये खट्टे फल के साथ धान की डाली बाँधकर उसे थाली में चावल डालकर सैरी की पूजा की जाती है। नाई लोग घर–घर इस थाली को लेकर सैरी की पूजा कराने आते हैं। सभी बूढ़े बच्चे पूजन करके उसे प्रसाद, मिठाई, मक्की, ककड़ी सेब आदि ऋतु फल चढ़ाते हैं। विश्वास किया जाता है कि इससे शरद ऋतु सारे परिवार के लिये शुभदायक हो।

दशहरा :— दशहरा त्यौहार हिन्दुओं का विजय पर्व आश्विन प्रतिपदा से नवमी तक घर–घर दुर्गा सप्तमी के पाठ, देवी मन्दिरों में दुर्गा पूजन, हवन व कन्या पूजनसे प्रारम्भ होता था। राजभण्डार में तथा सैनिक भण्डार में शस्त्रों का पूजन होता था किन्तु चम्बा नरेश चढ़त सिंह के 8114ई०में इसी दिन स्वर्गवास होने से दशहरा त्यौहार बन्द हो गया था। 1948 में राजाओं का शासन समाप्त हो जाने के बाद श्री संसार चन्द

महाजन ने पुनः दशहरा त्यौहार राम लीला के रूप में मनाने का आयोजन किया। तब से यह त्यौहार प्रतिवर्ष अधिक से अधिक लोक प्रिय बनता जा रहा है। प्रतिपदा से दशमी तक रात को चम्बा चौगान में मंच पर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की जीवन लीला नाटक रूप में दिखाई जाती है। दिन को अनेक भव्य झांकियां निकाली जाती हैं। खेल प्रतियोगिताएं होती हैं, अन्तिम दिन कुश्ती प्रतियोगिताएं होती हैं। अब कुछ वर्षों से वंगबन्धुओं के आने से बंगाल की भान्ति दुर्गा पूजा उत्सव भी मनाया जाने लगा है। दुर्गा की सुन्दर मूर्तियां बनाई जाती हैं व प्रदर्शित की जाती हैं। रामलीला का आयोजन अब रामलीला क्लब की ओर से होता है। दो तीन दिन लंगर भी लगाया जाता है। विजय दशमी वाले दिन संध्या को सूर्यास्त पूर्व रावण कुम्भकर्ण तथा मेघनाद के पुतले जलाये जाते हैं। पटाखों के शोर से आकाश गूंजने लगता है। हजारों नर–नारी इस कौतुक को देखने दूर–दूर से आते हैं। रात को रामराज्य तथा भरत मिलाप का दृश्य देखने योग्य होता है। लोग क्लब को यथाशक्ति दान व भेंट देते हैं। अब यह मेला प्रतिवर्ष प्रगति कर रहा है।

फुलैत्तर (फूल जात्र) :— यह मेला तहसील पांगी में आश्विन के अन्तिम दिन बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। राज्यकाल में सरकारी कर्मचारी हिमपात के कारण आश्विन मास में पांगी से चले आते थे और पांगी वासी स्वतन्त्र व स्वच्छन्द हो जाते थे, अतः इस खुशी में वे खूब नृत्य–गान करते थे। इस में पांगी का सेन नृत्य दर्शनीय है।

दीपावली (दियाली) :— दशहरे के बाद चम्बा में दीपावली का त्यौहार धन तेरस से आरम्भ हो जाता है। कार्तिक कृष्ण द्वादशी को पांच देवता यम, धर्मराज, सूर्य, कुवेर, तथा वरुण बनाये जाते हैं। त्रयोदशी को प्रात; उनकी स्थापना की जाती है। इस दिन से माताएं पाँच दिन तक अपने पुत्रों को तिलक लगाती हैं तथा पहले पंच देवों का पूजन करके जौ,सरसों सिर पर रखती हैं और उनकी दीर्घायु की कामना करती हैं। उन्हें गुड़, घी खिलाती हैं। दोपहर को गेहूँ के शीरे जिसे

चम्बा में (तरकीरा) कहते हैं कि घोल से धरती पर सारे घर में महालक्ष्मी के चरण अष्टदल गोल तथा अष्टकोण उकेरे जाते हैं। कमल के फूल बनाये जाते हैं जो पन्द्रह दिन तक बने रहते हैं। दिवाली के दिन घर-घर पकवान बनाये जाते हैं। रात को मिठाई का भोग लगाकर लक्ष्मी का पूजन किया जाता है। बच्चे पटाखे और आतिश बाजियां चलाकर मनोरंजन करते हैं। इस दिन बर्तन खरीदना शुभ माना जाता है। सारे घरों में दीप जलाये जाते हैं। अगले दिन प्रतिपदा को अन्न कूट का त्यौहार मनाया जाता है। नये चावल, नई दाल आदि बना कर विवाहित पुत्रियों तथा बहिनों को बुलाकर भोजन कराया जाता है। दूसरे दिन भैया दूज को बहिनें भाई को तिलक लगाती हैं, सगौतें, मवे तथा रुमाल उपहार में देती हैं। भाई बहिनों को पैसे या कपड़े उपहार देकर स्नेह बन्धन को सुदृढ़ करते हैं। पांच दिन के इस त्यौहार को यम पंचक भी कहते हैं और जिन पंच देवों की स्थापना करते हैं उन्हें 'हूड़ो' कहते हैं। इन पांच दिनों में घर में कपड़े धोना बुरा समझा जाता है। कई लोग यम पंचकों में पितरों को दीप दान भी करते हैं। प्राचीन काल में बच्चे लकड़ी के गट्ठें जला कर घुमाते थे, ऐसा विश्वास किया जाता था कि अग्नि के प्रकाश से भूतप्रेत भाग जाते हैं। अब इसका स्थान पटाखे तथा फुल झड़ियों ने ले लिया है।

पंचभीष्म :— दिवाली के दस दिन बाद चम्बा में पंचभीष्म का त्यौहार पांच दिन तक मनाया जाता है। एकादशी को प्रातः स्नान करके लोग तुलसी का पूजन करते हैं। तुलसी प्रत्येक हिन्दू घर में लगाई जाती है। यह कई रोगों की रामबाण औषधि है। तुलसी की गन्ध के आगे मच्छर नहीं आ सकते। तुलसी के क्यारे को या गमले को सफेदी या रोली के तिलक से सजाया जाता है। उसे डोरी व वस्त्र चढ़ाए जाते हैं। फलाहार बनाकर चढ़ाया जाता है। कई धार्मिक लोग पूरे पांच दिन व्रत रखते हैं और फलाहार करते हैं। इन दिनों प्रातः लक्ष्मीनारायण मन्दिर में प्रातः कालीन भजन गाये जाते हैं। रात को भी पांच दिन महिलाएं देव मन्दिरों में जाती हैं। मीठे फल तथा अखरोट और पुष्प मालाएं चढ़ाती हैं। मन्दिरों में भजन कीर्तन तथा पंचभीष्म महात्म्य की पौराणिक कथा सुनाई जाती है व देव प्रतिमाओं का सुन्दर

श्रृंगार किया जाता है। कई लोग गीता पाठ करते हैं। पूरे पांच दिन प्रातः तुलसी-पूजन किया जाता है। रात को तुलसी के आगे गेहूं के आटे के दीपक बना कर घी से जलाये जाते हैं। कई लोग तुलसी का विवाह भी करते हैं और कन्या की तरह सारा दहेज अपने पुरोहित को देते हैं।

लोहड़ी : - पंचभीष्म के बाद चम्बा में लोहड़ी का त्यौहार विशेष रूप से मनाया जाता है। पौष संक्रान्ति से ही चम्बा नगर के बालक अपने-अपने मुहल्लों में प्रतिदिन प्रत्येक घर से लकड़ी मांगते हैं। नगर को 14 मुहल्लों में विभक्त किया गया है जिनमें सात नर मढ़ी हैं तथा सात महिला मढ़ी हैं। सब से उपरि मढ़ी सुराड़ा मढ़ी है जिसे राज मढ़ी कहते हैं। चौंतड़ा मढ़ी वज़ीर मढ़ी कहलाती हैं। लकड़ी मांगने के भी तीन-चार गीत हैं जिन्हें सुनाकर बच्चे लकड़ी मांगते हैं। रात को कुछ लकड़ियां मढी पर जलाते हैं शेष लोहड़ी के लिये एकत्रित करते रहते हैं २५ पौष के बाद वर्षा वाले दिन लकड़ी के स्थान पर मक्की के दाने मांगते हैं। लोहड़ी से दो दिन पूर्व छोटा जागरा होता है, इस दिन नगर पालिका की ओर से सभी मढ़ियों को बजाने के लिये नगारे भी मिलते हैं। अगले दिन बड़ा जागरा होता है तथा पूरी रात बच्चे जागते रहते हैं व रात्रि भोज भी मढ़ी पर होता है। मक्की तथा कुछ लकड़ियां बेचकर उनसे खाद्य सामग्री खरीद कर सहभोज किया जाता है। भोर होते ही सभी मढ़ियों के बालक सारे नगर में पैसे मांगते हैं जिसे 'कठोरा' कहते हैं। **याचना गीत इस प्रकार है:**—हां करो हां करो गभरुओ काठोरा पंजे वाहनोरा रोक रूपेईया र:खोरा, देयो जी टका धेली ? घर वाले बच्चों को पैसे देकर विदा करते हैं। यह कार्यक्रम दोपहर तक रहता है। रात को सारी बची हुई लकड़ी मढ़ी पर जलाने के लिये पहुंचा दी जाती हैं। नर मढ़ियों को मशालें बनाने के लिये नगर पालिका द्वारालकड़ी प्रदान की जाती है। राजमढ़ी तथा वज़ीर मढ़ी की मशालें त्रिशूलाकार होती हैं, शेष एक मुहीं। रात के 10 बजे के लगभग राजमढ़ी में बाजे गाजे के साथ मशाल, जिसे राज मुशाहरा

कहते हैं, जीवादान देकर उठाया जाता है। फिर मुहल्ले के युवक उसे कन्धे पर उठाकर वज़ीर मढ़ी में लाते हैं, दोनों जलते हुए मुशाहरों का परस्पर मिलन कराया जाता है। इस प्रकार सातों नर मढ़ियों से सात मुशाहरे इक्ट्ठे हो कर जब चौगान में पहुंचते हैं तो दृश्य देखने योग्य होता है। अब तो पूरे सात पहुंचते ही नहीं, लोग आपस में ही लड़कर समय नष्ट करते हैं। राज मुशाहरा शेष सात महिला मढ़ियों में तीन बार डुबाया जाता है। इस प्रकार रात भर पूरे नगर की प्रदक्षिणा करने के बाद राज मुशहरा वापिस पहुंचता है, इसकी सुरक्षा के लिये पुलिस साथ रहती है। बर्ष 1984 में राज मुशाहरा उठाया ही नहीं गया। अग्नि प्रज्वलन की यह प्रक्रिया विश्व के अनेक देशों में प्रचलित है। भारतीय वाङमय में अग्नि को देवता माना गया। विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की प्रथम ऋचा ही अग्नि की स्तुति से आरम्भ हुई है, 'अग्नि मोड़े पुरोहिभृतम यज्ञस्य देवता ऋत्विजम् होंत्तारं रत्नधारम्। हिन्दुओं के प्रत्येक धार्मिक कृत्य में अग्नि पूजन का विधान है भूत प्रेतों को भगाने के लिये अग्नि पूजन या प्रज्वलन की प्रथा सभी देशों में आज भी प्रचलित है।

● डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज ने 'लोहड़ी 'नृतत्व शास्त्रीय अध्ययन' नामक लेख में इसका विस्तृत विवेचन किया है। कहा जाता है कि लोहड़ी के फेरे का आयोजन भी नगर की भूत बाधा से रक्षा के लिये ही किया गया था। नगर में एक भूत नागरिकों को बहुत सताया करता था। प्रतिदिन एक व्यक्ति भूत को प्रदान किया जाता था। राज्य में जो नया व्यक्ति मुसाफिर आता था उसे चौन्तड़ा मढ़ी में ठहराया जाता था। रात को भूत उसे खा जाता था। एक बार एक तान्त्रिक चम्बा आया। उसे भी राज कर्मचारियों ने वहीं ठहरा दिया। रात को तान्त्रिक ने मन्त्र बल से भूत को मार दिया। प्रातः जब लोगों ने उसे जीवित पाया तो राजा को सूचना दी गई। राजा ने तान्त्रिक ब्राह्मण को अपना गुरु बना लिया। उसी के परामर्श से लोहड़ी के फेरे और इसके विधान का आयोजन प्रतिवर्ष नगर रक्षा के लिये प्रारम्भ किया गया। तहसील पांगी में भी लोहड़ी को रात को पकवान पका कर पितृ पूजन किया जाता

है, आग जलाई जाती है तथा काली पूजन किया जाता है। सूर्य के उत्तरायण में प्रवेश करने के कारण इसे उत्तरैण पर्व का नाम दिया गया है।

मकर संक्रान्ति :—लोहड़ी के दूसरे दिन चम्बा जिले में मकर संक्रान्ति का त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। लोग प्रातः ही स्नान करके चावल, माश की दाल की खिचड़ी बनाते हैं। कच्चे चावल व दाल के साथ घी का दान करते हैं। यह दान पूरा मास प्रभात फेरी करने वाले लोगों को और माघ मास का नाम सुनाने वाले वासवारों को दिया जाता है। विवाहित लड़कियों को माता-पिता सपरिवार बुलाकर खिचड़ी घी तथा दही के साथ अवश्य खिलाते हैं। बसोए की पिन्दड़ी तथा लोहड़ी की खिचड़ी का त्यौहार चम्बा में घर-घर मनाया जाता है। गरीब से गरीब व्यक्ति भी इस दिन खिचड़ी अवश्य खाता व खिलाता है, यद्यपि देशी घी खरीदना अब उसके लिये असम्भव होता जा रहा है। मंहगाई के विकराल काल में हमारे सभी त्यौहार मेले समाप्त होते जा रहे हैं।

गौरी-तृतीया गोन्त्री :– इसके बाद गौरी तृतोया का पर्व चम्बा जिला में बहुत महत्व पूर्ण माना जाता है। इस दिन अनेक सुहागिनें स्नानादि करके स्वच्छ वस्त्र पहनती हैं। गौरी तृतीया का वृत रखती हैं गौरी शङ्कर के मन्दिर में जाकर शिव पार्वती का पूजन करती हैं। पार्वती माता को रेशमी वस्त्र, आभूषण तथा गरी के हार चढ़ाती हैं। और अपने लिये अखण्ड सौभाग्य की गौरी माता से प्रार्थना करती हैं। गद्दी लोग भी इस त्यौहार को विशेष रूप से मनाते हैं। बिना मुहूर्त जुड़ाये इस दिन अनेक विवाह होते हैं। कहते हैं भगवान शङ्कर ने पार्वती से इसी दिन विवाह किया था। भरमौर के शिव मन्दिर में इस रात को नुआला होता हैं जिसमें शिव विवाह को एंचली के रूप में गाया जाता है। गद्दी महिलायें इस दिन स्नान करके नये वस्त्र पहन कर अखरोट की दातुन ओंठों पर लगाकर शिव मन्दिर जाती हैं और माता पार्वती को भी अखरोट, अखरोट की दातुन, ऊन, दाल (माश की)

तथा चावल खिचड़ी चढ़ाती हैं। रात को बबरू पकाये तथा खाये खिलाये जाते हैं।

बसन्त पंचमी :— गौरी तृतीय के दो दिन बाद ही बसन्त पंचमी का त्यौहार आ जाता है। इस दिन लोग प्रातः ही स्नान पूजन के बाद बसन्त के गीत गुन-गुनाने लगते हैं। मन्दिरों में लोक वाद्यों पर बसन्त गान सुनाई देने लगते हैं। महिलाएं पीले वस्त्र तथा पुरुष पीली पगड़ियाँ या पीले रूमाल पहन कर बसन्त का स्वागत करते हैं। उधर प्रकृति भी खेतों में सरसों के पीले फूलों को खिलाकर वातावरण को मुखतरित बना देती है। घर में पीले मीठे या नमकीन चावल बनाये जाते हैं और खाए जाते हैं। कई लोग यदि धूप अच्छी हो तो, इस दिन घर से बाहिर पिकनिक मनाने चले जाते हैं। कई संस्थाएं भी इस दिन अपने कार्यक्रम रखती हैं। साहित्यिक संस्थाएं इस दिन, संगीत सभा सम्मेलनों का आयोजन करती हैं। धार्मिक संस्थाएं इस दिन बसन्त के महत्व पर भाषण आदि का आयोजन करती हैं। लक्ष्मीनारायण जी के मन्दिर में इस दिन से शहनाई पर बसन्त के गीत गूंजने लगते हैं। सायंकाल 4 बजे भगवान लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में बसन्त के प्राचीन गीत गाये जाते हैं। पहले इस दिन भगवान को सफेद लट्ठे को आधा पीला व आधा सफेद रंग कर वन्दी चढ़ाई जाती थी और नगर के बच्चों को भी बांटी जाती थी। भिगोये तथा तिल के मीठे लड्डू व चावल के ओरे से बनी मीठी वियावें भी भगवान को भोग लगाकर बच्चों को बांटी जाती थी। पर अब यह वितरण मंहगाई के कारण बन्द करना पड़ा है।

शिवरात्रिः—बसन्त पंचमी के बाद चम्बा में शिवरात्रि का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। चम्बा जिला भर में अनेक शिव मन्दिर हैं। चम्बा निवासी इस भूमि को शिव भूमि ही मानते हैं अतः यहां अनेकों शिव मन्दिर हैं। प्रत्येक शिव मन्दिर को सजाया जाता है। भगवान शिव की मूर्ति अथवा लिंग को सुन्दर रेशमी वस्त्रों से गोटा आदि लगा कर सजाया जाता है। स्नान व पूजा करके इस दिन निराहार ब्रत रखा जाता है। लोग मन्दिरों में कच्चे चावल व माश की दाल मिलाकर गेहूं, जौ की हरी डालियां तथा बिल पत्री शिव

मन्दिरों में चढ़ाते हैं। ब्राह्मण लोग शिव मन्दिरों में गोबर के शिव रुद्रियां बनाकर शिवजी का पार्थिव पूजन करते हैं। ॐ नमः शिवाय का अखण्ड जाप होता है। रात को घर-घर खिचड़ी बनाकर खाते व खिलाते है। कई बच्चे भी शौक वश निराहार ब्रत रखते हैं। कुछ लोग भूख से टलने के लिये इस दिन सपरिवार मील दो मील की दूरी पर शिव मन्दिर में सैर के बहाने चले जाते हैं। रात को सभी शिव मन्दिरों में शिव पूजन नुआला होता है। बन्दे शिव महिमा का गायन ऐंचली द्वारा गाते हैं। कई स्थानों पर शिव चेले भी कांपते हैं। कई धार्मिक लोग अपने-अपने घरों में इस दिन नुआला रचाते हैं। कई मन्दिरों में रुद्रध्याई, शिव महिम्न स्तोत्र का पाठ होता है तथा कई मन्दिरों व घरों में अखण्ड कीर्तन होता है। हरियाणा पंजाब आदि से जंगम पीले चोले व धोती पहन कर फैरी डालते हुए शिव विवाह का गान घर-घर सुनाते हैं व लोगों से वस्त्र तथा रुपये मांगते हैं। आर्य समाज में इस दिन ऋषि बोध उत्सव मनाया जाता है। भाषण तथा कविताओं के द्वारा स्वामी दयानन्द जी के जीवन पर प्रकाश डाला जाता है। भरमौर क्षेत्र में तथा साहो के चन्द्रशेखर मन्दिर व त्रिलोचन महादेव के शिव मन्दिरों में शिव पुराण की कथा सुनाई जाती है। कुछ लोग घरों में भी शिव पुराण का वाचन करते हैं। लोग शिव जी को दूध लस्सी चढ़ाते हैं तथा अर्ध्य प्रदक्षिणा करते हैं।

इस दिन लोग घरों के दरवाजे पर करंगोरे के कांटे भी लगाते हैं जिन्हें रक्षा कवच माना जाता है। होली के दिन इन्हें उतार कर होली दहन के समय जला दिया जाता है। ऐसी मान्यता है कि इससे घर में राक्षसों का प्रवेश नहीं हो सकता।

होली (होर): - शिवरात्रि के बाद वर्ष का अन्तिम त्यौहार होली है। इस दिन प्रात ही भगवान लक्ष्मी नारायण मन्दिर में जाकर लोग भगवान को होरी के गीत सुनाते हैं। अबीर और गुलाल फैंकते हैं। उसके बाद परस्पर गुलाल अबीर छिड़क कर होली खेलते हैं। राजाओं के काल में अबीर गुलाल आदि यहीं बनाये जाते थे। अब बाहिर से मंगाये जाते हैं। दोपहर को लोग जलूस बनाकर एक दूसरे को रंगते हुए चलते हैं। पहले पानी वाले रंगों का प्रयोग नहीं किया जाता था

कुछ वर्षों से इसका प्रयोग भी शुरू हो गया किन्तु अब पानी वाले रंग बहुत मंहगे तथा हानीकारक होने से इनका प्रयोग फिर बन्द होता जा रहा है। सायं 4 बजे मन्दिर विभाग की ओर से फिर लक्ष्मी नारायण जी को होरी खेलाई जाती थी तथा बन्दी चढ़ाई जाती थी और बच्चों को भी चने तिल के लड्डू बांटे जाते थे। लोगों को घर पर भी बन्दी, चने, तिल के लड्डू तथा वियायों के थाल प्रसाद के रूप में बांटे जाते थे। रात को घर-घर लोग घास फूस इकट्ठा करके होलिका पूजन करते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर के बाहिर भी दो होले जलाये जाते थे जिनमें चील के पोल लगाये जाते थे। ऊपर लाल कपड़े में राजा की ओर से रुपये बांधे जाते थे । इसके बाद मनोरंजन के लिये नगर के अनेक दलों की ओर से झाँकियां होती थी अब मनोरंजन के रूप में सिनेमा तथा टेलीवीज़न आ गये हैं अतः झांकियों का प्रचलन बन्द हो गया है । भगत व रास भी अब लुप्त हो गई हैं। हां, ग्रामों में हरणात्र अब भी प्रचलित हैं जो होला दिन से पूरे मास भर चलती हैं। हरणात्र में हिरण का स्वांग बनाया जाता है फिर गद्दी गद्दन, चुराही, चुरैहण व कामा (सेवक) के हास्यप्रद मौखिक सम्वाद होते हैं। इसमें साधु का स्वांग दिखाया जाता है, कृष्ण गोपी तथा उनके विदूषक सखा मनसुखा के सम्वाद होते हैं, लोगों को हंसाया जाता है। होली दहन के अवसर पर मक्की, गेहं, चने, तिल तथा चौलाई पांच प्रकार के दाने भून कर अग्नि को चढ़ाये जाते हैं व परस्पर बांटे जाते हैं ।इसके बाद लोहड़ी तक खड्डे खाने का प्रचलन बन्द रहता है।

इस प्रकार हिमाचल प्रदेश का जिला चम्बा वर्ष भर अनेक प्रागेतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सूत्रों को विखेरता हुआ जन मानस को व्यस्त तथा मस्त बनाये रखता है।

गुज्जर जन जाति का साँस्कृतिक इतिहास

महमूद बेज मिर्ज़ा 'नाशाद'

गुज्जर एक खाना बदोश जाति है। इसका निवास स्थान चम्बा, जम्मू काश्मीर व हिमाचल प्रदेश के विभिन्न स्थानों में है। इस घुमन्तु जाति का पेशा गाय, भैंस पालना और दूध-घी बेच कर अपना जीवन निर्वाह करना है। इसलिए यह जाति एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती रहती है। गर्मियों में गुज्जर मैदानी इलाकों को छोड़कर पहाड़ों की ओर रुख करते हैं। गद्दियों की तरह गुज्जर अकेले नहीं घूमते बल्कि इनका कुटुम्ब एक कारवां के रूप में एक जगह से दूसरी जगह घूमता है।

गुज्जर कहां से और कब आए, इसके बारे में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कई इतिहासकारों का मत है कि गुज्जर भारत की प्राचीनतम जातियों में से हैं और ये भारत के प्राचीन यादव कुल से अपना सम्बन्ध रखते हैं। अन्य इतिहासकार इन्हें रूस के एक प्रदेश जियोर्निया से आए बतलाते हैं। पर्शिया में जियोर्जिया को गुज्जर स्थान के नाम से जाना जाता था। इतिहासकार हरमन गोइट्ज़ के मतानुसार छटी शताब्दी में गुप्तकाल के ह्रास के पश्चात्, मध्य एशिया की कई एक बर्बर जातियों ने भारत पर आक्रमण किया जिन में से एक जाति गुर्जर प्रतिहार थी। इन्होंने उत्तरी भारत पर अपना कब्ज़ा किया और राजस्थान में कई एक राज्यों का निर्माण किया। समय परिवर्तन के साथ उच्च कोटि के गुर्जर प्रतिहारों ने अपने आपको राजपूतों में परिवर्तित कर लिया और हिन्दू देवी देवताओं को ही अपना आराध्य देव बनाया। निम्न कोटि के गुर्जर समय के साथ-साथ गुज्जर कहलाए जो आज भी चम्बा जम्मू और काश्मीर के अन्य इलाकों में देखे जा सकते हैं। ये गुज्जर गाएं भैंसें पालकर अपना गुज़ारा करने लगे। मध्य एशिया से आए होने के कारण आज तक भी इस जाति को खुली

वायु व स्वच्छन्द वातावरण पसनन्द है ।

औरंगजेब के समय में इन्होंने इस्लाम धर्म को अपना लिया, परन्तु गुज्जरों के गोत्र जैसे भट्टी, चन्देल, चौहान, इनके गुर्ज्जर प्रतिहार होने की ओर इंगित करते हैं। गुजरांवाला, गुजरात, गुर्ग, गर्ज इत्यादि नाम आज भी गुर्जर प्रतिहार शासकों की ओर संकेत करते हैं। इतिहास-कार कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी गुर्जरों की उत्पत्ति भारत में ही बतलाते हैं। साहित्य में इनका उल्लेख सर्वप्रथम (7वीं शताब्दी) प्रसिद्ध कवि बांण भट्ट की रचना हर्षचरित्त में मिलता है। ह्वेनसांग अपने यात्रा विवरण में इनका उल्लेख करता है। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि कल्हण की "राजतरंगिणी" में इन का कोई उल्लेख नहीं।

गुज्जर जाति के जीवनोपार्जन का मुख्य साधन इन के पशु हैं। चम्बा की गुज्जर जाति अपनी धर्मपरायणता और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध है। शुक्रवार के दिन ये अपना दिवस मनाते हैं और उस दिन कोई भी गुज्जर दूध घी विक्रय नहीं करता। गुज्जर पुरुष ऊंची धारों पर गाय भैंसें चराते हैं और स्त्रियां घरों का काम काज, जैसे दूध दूहना, घी बनाना इत्यादि निपटाती हैं। चम्बा के गुज्जर सीधे साधे परन्तु मेहनती और हृष्ट-पुष्ट लोग हैं। इन की शान्ति प्रियता और नम्र स्वभाव प्रसिद्ध है। अपनी मुगल शैली की पगड़ी, लम्बे कद और मेंहदी लगी दाढ़ी से ये दूर से ही पहचाने जाते हैं। गुज्जर स्त्रियां कुर्ता व चुड़ीदार पाजामा काश्मीर की औरतों की तरह पहनती हैं। गुज्जरों का खाना साधारण परन्तु स्वास्थयवर्द्धक होता है। ये शराब नहीं पीते और न ही किसी अन्य नशे का प्रयोग करते हैं। पुत्र जन्म पर ये बहुत खुशियाँ मनाते हैं। इनके घर में जब किसी बच्चे का जन्म होता है तो इसे ये "खुदा" द्वारा दिया हुआ तोहफा मानते हैं। पुत्र के जन्म होने पर उसे पड़ोसियों को दे दिया जाता है ताकि वह बुरी नज़र से बचा रहे। पति उस कमरे में नहीं जा सकता जहां पत्नी ने बच्चे को जन्म दिया हो। "परिवार नियोजन को गुज्जर लोग अधिक महत्व नहीं देते।

यद्यपि एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमना इनका पेशा है तो भी ये किसी प्रकार से निर्धन नहीं कहे जा सकते। विवाह के समय गुज्जर युवती को दहेज देने की प्रथा नहीं है। दहेज के बदले में सिर्फ कुछ राशि निश्चित की जाती है जो कि रुपये 500/- से 100 तक कुछ भी हो सकती है। निकाह के समय धन राशि के एवज में गाए भैंसें भी देने की प्रथा है। इनकी बारात सेहराबन्दी के बाद दुल्हन के घर जाती है। बारात दूल्हा सहित पैदल ही चलती है और इनके नौबतखाना में केवल ढोल ही बजाया जाता है तथा ढोल के पीछे तीन चार बाराती नंगी तलवारें लेकर नाच करते हैं। इनके भोज में प्रायः चावल, शक्कर, घी और दही प्रयोग किया जाता है तथा खाना एक ही थाल में परोसा जाता है।

ये नमाज़ रोज़ा के पाबन्द हैं। हज और ज़कात के भी बहुत पाबन्द हैं। जो गुज्जर हज कर आते हैं उनको आदर सहित हाजी के नाम से पुकारा जाता है। ये अतिथि सत्कार को बहुत मानते हैं।

भारत विभाजन से पहले चम्बा की गुज्जर जाति अशिक्षित थी और इनमें से कुछ प्रौढ़ व्यक्तियों को, धार्मिक सन्तुष्टि के लिए केवल उर्दू और अरबी का ही ज्ञान था। ये मौलवी और उस्तादों से अपने घरों में शिक्षा ग्रहण करते हैं।

हिमाचल राज्य बनने के उपरान्त इनके उत्थान के लिए विशेष प्रयत्न किए गए। इनके लिए चलते फिरते स्कूल व पुस्तकालय खोले गए। चम्बा में गुज्जरों की नई पीढ़ी अधिकतर कालिज व स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करती है और कुछ एक नौजवान गुज्जर शिक्षा विभाग के ऊंचे पदों पर पहुंच चुके हैं तथा अब इनकी नई पीढ़ी की वेशभूषा में भी अन्तर आ गया है। इतिहासकार हरमन गोइटज़ इनके पहरावे की तुलना अध्ययन काफिरिस्तान की एक प्राचीन जनजाति की वेशभूषा से करता है।

चम्बा में गुज्जरों के लिए नीलामी द्वारा चरागाह 1863-64 ई० में खोले गए और फिर वहां इनका आगमन तेज़ी के साथ बढ़ता

गया। चम्बा की एक लोकप्रिय किंवदन्ती के अनुसार वहां के एक राजा ने दूध की सुलभता हेतु एक गुज्जर के परिवार को चम्बा रहने का निमन्त्रण दिया। तत्पश्चात् एक कुटुम्ब के साथ अन्य कई कुटुम्ब शामिल हो गए और इनका कारवां बढ़ता ही गया।

धीरे-धीरे आज का गुज्जर अपने घुमन्तु जीवन को पीछे छोड़ रहा है। चम्बा के अधिकतर गुज्जरों ने साहू व अन्य गांवों में ज़मीनें ले ली हैं, वहीं अपने रहने के लिए मकान बनवा लिए हैं और थोड़ी बहुत खेती बाड़ी भी करने लगे हैं। हिमाचल सरकार की ओर से साहू गांव से चम्बा तक आने जाने के लिए बसें चलती हैं। समय के प्रभाव से गुज्जर बच नहीं पाए, जब ये दूध के विक्रय हेतु बाज़ार से निकलते हैं तो अन्य लोगों की तरह उनके हाथों में घड़ी व कन्धे पर ट्रांज़िस्टर लटकता हुआ नज़र आता है। आज तक चम्बा में ऐसा नहीं हुआ है कि किसी गुज्जर ने अपने कुटुम्ब और अपने रीति रिवाज़ों को छोड़ दिया हो तथा गुज्जर जाति से बाहर कदम रखा हो। चम्बा में मिल्क सैन्टर खुल जाने से और कोल्ड स्टोरेज की सुविधा से इनकी आर्थिक स्थिति व इनके जन जीवन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

गुज्जर जाति मुसलमान तथा हिन्दू दोनों वर्गों से सम्बन्धित है। हिन्दु गुज्जर घुमन्तु नहीं हैं। उन्हें जनजातिय घोषित नहीं किया गया है।

स्पिति क्षेत्र की लोकभाषा

—कु० श्यामा ठाकुर

भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से लाहुल और स्पिति का ज़िला विशेष महत्व का है। यह न केवल हिमाचल प्रदेश बल्कि समस्त भारत का उत्तरी छोर है, जिसकी सीमा तिब्बत के साथ लगती है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह वह क्षेत्र है जहाँ आदिकाल से विभिन्न जातियों का समागम होता रहा है। पूरे ज़िले के दो स्वतन्त्र क्षेत्र हैं, एक लाहुल और दूसरा स्पिति।

स्पिति क्षेत्र इस समय लाहुल और स्पिति ज़िले का एक उपमण्डल है। स्पिति शब्द तिब्बती भाषा का है जिसका अर्थ 'मध्य देश' है और सम्भवत: एक ओर लाहौल और दूसरी ओर तिब्बत और लद्दाख होने के कारण इसे मध्य क्षेत्र अर्थात् स्पिति कहा गया है। आदिकाल से यह एक ओर तिब्बत और लद्दाख तथा दूसरी ओर कुल्लू क्षेत्र के राजाओं के बीच युद्ध-स्थान रहा है। इस क्षेत्र के अन्य इलाकों की तरह स्पिति का प्राचीन इतिहास अन्धकार में रहा है, परन्तु यह कहा जाता है कि आरम्भ में सम्भवत: यहां हिन्दू राजाओं का राज्य था, जिनके नाम के अन्त में सेन शब्द प्रयुक्त होता था। हारकोर्ट का कहना है कि इस वंश के सिक्के इस क्षेत्र में मिले हैं, परन्तु इसकी अधिक पुष्टि नहीं हुई है। कुल्लू ज़िला के औटर सिराज के निरमण्ड के परशुराम मन्दिर में राजा समुद्रसेन द्वारा दिया गया ताम्रपट्ट है, जो पुरात्तत्विक दृष्टि से सातवीं शताब्दी का है। समुद्रसेन नाम से उस समय चम्बा, कुल्लू, मण्डी, या बुशहर रियासतों में कोई राजा नहीं था और यह अनुमान लगाया जाता है कि यह स्पिति का राजा था। कहा जाता है कि सातवीं शताब्दी के मध्यकाल में सेन नाम के ही स्पिति के राजा ने कुल्लू पर आक्रमण किया था और उसने नगर के

निकट रूमसु गांव में अपनी राजधानी स्थापित की थी। परन्तु स्पिति का अधिकार कुल्लू पर अधिक देर तक न जम सका और आठवीं शताब्दी के आस पास कुल्लू के राजा प्रसिद्ध पाल ने स्पिति के राजा को इस क्षेत्र से मार भगाया।

कुल्लू के राजा से भारी युद्ध के बाद पराजय खाने पर स्पिति का राज्य बहुत कमज़ोर पड़ गया था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए तिब्बत ने स्पिति पर आक्रमण किया और एक लम्बे समय तक तिब्बत का स्पिति पर अधिकार स्थापित रहा। फलस्वरूप इसी बीच बौद्ध धर्म सारे स्पिति क्षेत्र में और धीरे-धीरे लाहुल क्षेत्र में भी फैल गया। लगभग दसवीं शताब्दी के आस-पास तिब्बत के राजा लांगदर्मा के पड़पोते न्यूमागोन ने स्पिति के अतिरिक्त लद्दाख पर भी अधिकार जमाया। परन्तु यों लगता है कि लद्दाख के राजा ने शीघ्र ही अपनी सत्ता सुदृढ़ की और तिब्बत से स्वतन्त्र होकर उसने स्पिति पर भी अधिकार किया। लद्दाख के राजा ब्यंग-छुब-सेमसपा ने स्पिति के ताबो में एक गोन्पा की स्थापना की जो आज भी अपनी विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध है। उसके कुछ समय बाद लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में इस सारे क्षेत्र पर गुगे प्रान्त के राजा या राजाओं का अधिकार रहा है। चापरांग इन राजाओं की राजधानी थी।

सतारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक ऊपर कथित राज्य क्षीण हो गया लगभग सोलह सौ अस्सी के आस पास कुल्लू के राजा मानसिंह ने स्पिति पर आक्रमण किया और स्पिति पर अधिकार जमाने के बाद नज़राना लेना आरम्भ किया। भाबा और रूपिन दर्रों के दामन में पिन नदी के निकट समधो में दो किलों के खण्डहर अब भी देखे जा सकते हैं, जिन्हें ल्युंगटी खर कहते हैं। ये मानसिंह राजा द्वारा स्थापित किये गये माने जाते हैं।

यूं लगता है कि स्पिति क्षेत्र तिब्बत, लद्दाख, कुल्लू और बुशहर के पड़ौसी राजाओं का अखाड़ा रहा है। इन में से जो भी राज्य जिस समय अधिक प्रबल रहा वह स्पिति पर अधिकार जमाता रहा। 1819 में ट्रेबेक और मूरक्राफ्ट इस क्षेत्र से गुजरे हैं। वे पहले विदेशी थे जो

इस ओर पहुंचे और उनके यात्रा संस्मरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनकी यात्रा से कुछ समय पूर्व कुल्लू की एक सेना ने कुंजुम दर्रे से आक्रमण किया था। सम्भवतः कुल्लू का वज़ीर शोभा राम उस समय सेना-नायक था। 1881 में गुलाबसिंह के सबसे योग्य जनरल ज़ोराबर सिंह ने जब लद्दाख पर विजय पाई तो स्पिति में एक सरदार रहीम खां को नियुक्त किया।

1841 में जब सिक्खों ने कुल्लू पर कब्ज़ा किया तो एक सेना स्पिति को भी भेज दी गई। परन्तु इस सेना को लूटमार के सिवा और और कोई अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1846 में अंग्रेज़ों और सिक्खों के बीच प्रथम युद्ध के फलस्वरूप रावी नदी से सिन्ध नदी तक, लद्दाख और स्पिति समेत सारा क्षेत्र जम्मू के राजा गुलाबसिंह की की स्थायी प्रभुता के अधीन बदल दिया गया। परन्तु उसी वर्ष कुछ और क्षेत्रों के बदले में स्पिति को कुल्लू के साथ मिला दिया गया, जिस का मूल उद्देश्य यह था कि तिब्बत के साथ ऊन का व्यापार करने के प्रयोजन से इस क्षेत्र के साथ एक सड़क बनाई जाए। 1846 के शरत्-काल में सर ए. कनिंघम और वानस एगनियू ने स्पिति और लददाख और पूर्वी तिब्बत के बीच सीमा निर्धारित की जिसमें परांग दर्रे के उत्तर और बारालाचा के पूर्व का पर्वतीय और सुनसान इलाका स्पिति के साथ मिलाया गया। 1846 के बाद पहले तीन वर्षों में बुशहर के राजा को राजस्व की वसूली ठेके पर दी गई, परन्तु सहायक कमीशनर मेजर 'हे' स्वयं स्पिति गया और स्पिति का अधिकार अपने अधीन कर लिया। तब अंग्रेज़ों ने इस क्षेत्र को जागीर बनाकर नूनू के अधीन कराया। नूनू अवैतनिक मैजिस्ट्रेट के रूप में कार्य करता रहा। 1941 में इसे लाहौल के साथ मिला कर एक उपतहसील का गठन किया गया।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इस क्षेत्र ने अधिक सामरिक महत्व ग्रहण किया। तब यह लाहुल के साथ पंजाब राज्य के अधीन कांगड़ा ज़िला के कुल्लू उपमण्डल का एक क्षेत्र था। भारत सरकार ने इसके महत्व को देखते हुए इसे प्रथम अप्रैल 1960 को कांगड़ा और कुल्लू से अलग करके स्वतन्त्र ज़िला के रूप में स्थापित किया। लाहुल और स्पिति नाम के इस ज़िला का कुल क्षेत्रफल 4695 वर्गमील है जिसमें

से 2931 वर्गमील स्पिति का और 1764 वर्गमील लाहुल का क्षेत्रफल है । 1981 की जनगणना के अनुसार स्पिति की जनसंख्या 10362 और लाहुल की 21378 तथा पूरे ज़िले की जनसंख्या 32100 है।

स्पिति क्षेत्र के ऊपरकथित इतिहास की पृष्ठ भूमि में यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अधिकतया बौद्धधर्म का प्रचलन रहा है। इस क्षेत्र में ताबो, किब्बर, और की जैसे महत्वपूर्ण बौद्ध विहार स्थापित हैं, जो भारतवर्ष के लिए ही नहीं, विदेशों के विद्वानों के लिए भी आर्कषण-केन्द्र बने हुए हैं। सारे क्षेत्र में बौद्धधर्म का प्रचार तिब्बती भाषा में होता रहा है। यह यहां की मुख्य भाषा भी है। परन्तु तिब्बत से दूर होने के कारण यहां की भाषा में कुछ अपनी विशिष्टता भी है। केन्द्रीय तिब्बती के उच्चारण से स्पिति भाषा के उच्चारण में कुछ भिन्नता आ गई है। 'ज' वर्ण 'स' में और 'ज्ह' वर्ण श में बदल गया है, जैसे तिब्बती ज्हिमपो स्पिति 'शिमपो' (मीठा), तिब्बती 'ज्होअंखा' स्पिति शोअंका (खेत) तिब्बती 'शोगखा' (प्रातः)। यह उल्लेखनीय है कि यहां 'श' देवनागरी के ठी..'श' की तरह नहीं है। यह 'श' और 'स' के बीच की ध्वनि है। तिब्बती भाषा में 'ग' और 'द' जब शब्दों के अन्त में आते हैं तो प्रायः वे प्रायः लुप्त होते हैं अथवा काकल्य उच्चारण देते हैं। परन्तु स्पिति में इनका उच्चारण पूरी तरह स्पष्ट सुनाई देता है, जैसे—चिग (एक),दुग (है), ड्रुग (छः), ग्यद (आठ), ख्योद (तू) आदि स्पिति के उच्चारण हैं जिनमें मूल तिब्बती में अन्तिम 'ग' और 'द' स्पष्ट उच्चरित नहीं होते।

तिब्बती भाषा में घोष महाप्राण (घ, झ, ध, भ) नहीं होते परन्तु स्पिति में इनकी उपस्थिति दिखाई देती हैं। यथा तिब्बती 'बुमो' स्पिति 'भुमो' (बेटी) तिब्बती 'गङ्.) स्पिति 'घङ्' (कौन), तिब्बती 'दुस' स्पिति 'घुइ' (समय), तिब्बती 'अंस' स्पिति 'घौइ' (कपड़ा) स्पिति भाषा में घोष महाप्राणों का अस्तित्व हिन्दी के प्रभाव के कारण है। इसी तरह तिब्बती 'ब' स्वरों के प्रभाव से 'व' में बदल जाता है। यथा ज़ावा शब्द स्पिति में 'सावा' (खाना), तिब्बती 'शिबा' स्पिति में 'शिवा' (मरना), आदि। तिब्बती भाषा में कुछ शब्दों के संयोग से

उच्चारण में भेद आता है, जैसे—क्र, प्र दोनों का उच्चारण ट्र है, इसी तरह ख्र, फ्र का ठ्र तथा ग्र और ब्र का ड्र हो जाता है। स्पिति में ट्र, ठ्र और ड्र ध्वनियां अवश्य है परन्तु सब का उच्चारण तिब्बती जैसा नियमबद्ध नहीं। स्पिति के हस्तलिखितों में ये सभी संयुक्त अक्षर विद्यमान हैं, परन्तु पढ़ते या बोलने समय 'र' सुनाई नहीं देता। वे केवल 'ट' और 'ड' हो उच्चरित होते हैं, यथा, तिब्बती लिखित रूप 'क्रदपा' उच्चरित रूप 'ट्रदपा' स्पिति में 'टद्पा' (चमड़ा) उच्चरित होता है। इसी तरह तिब्बती लिखित रूप ख्रोनपा', उच्चरित रूप ठ्रोनपा तथा स्पिति का रूप ठोनपा होगा। तिब्बती लिखित रूप 'ग्री', उच्चरित रूप 'ड्री', स्पिति में 'डि' (चाकू), तिब्बती में लिखित रूप 'फ्रुगु', उच्चरित रूप 'ठ्रगु', स्पिति में 'ठ्रगु'।

मूल तिब्बती के आरम्भिक घोष अल्पप्राण वर्ण स्पिति में महाप्राण बन जाते हैं, जैसे-तिब्बती 'गंग' स्पिति 'घंग' (कौन), तिब्बती 'दुदपा' स्पिति, तिब्बती बुमो स्पिति 'भुमो' (बेटी) आदि। यहां यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि यह महाप्राणत्व केवल सामान्य बोलचाल में सुनाई देता है। हालांकि प्रयत्न से उच्चारण करने पर ऐसा उच्चारण नहीं होता।

तिब्बती का व्याकरण वहां के सातवीं शताब्दी के राजा स्त्रोङ् चेन गम्पो के आदेशों पर उसके मन्त्री थोनमी सम्भोट ने तैयार किया था। थोनमी सम्भोट कई वर्षों तक भारत वर्ष के विश्वविद्यालयों में पढ़ते रहे और तत्पश्चात् उन्होंने तिब्बती व्याकरण तैयार किया। इस व्याकरण में संस्कृत की तरह सातों विभक्तियां और सम्बोधन विद्यमान हैं। स्पिति में कर्त्ता, करण और अपादान के प्रत्ययों के अतिरिक्त शेष सभी विभक्तियों के प्रत्यय तिब्बती भाषा से मिलते हैं, कोई अन्तर नहीं है। अन्तिम बलात्मक स्वराघात का लोप हो गया है। अपादान तिब्बती प्रत्यय 'लस' और 'नस्' में कोई बलात्मक स्वराघात नहीं है। वह पूर्णतया 'ले' और 'ने' बन गये हैं। यथा, खो युल ले फोता ला बुम्रं सोम्रं (वह नगर से शहर गया)। यहाँ ले प्रत्यय तिब्बती लेस् है। इसी तरह 'खो सु शिम्रंका ने सु सा अंग अग' (वह खेत से घास काटेगा)

इस वाक्य में भी 'ने' तिब्बती 'नेस्' है। इसी तरह कर्त्ता और करण का -स' स्पिति में 'सु' में बदल गया है यथा, छामो सु दोंपा डिम सोअं (स्त्री ने पत्थर फेंका) 'सु' के प्रयोग ने तिब्बती भाषा के करण कारक के प्रत्यय गीस, क्यीस, ग्यीस, ईस और यीस का बहिष्कार कर दिया हैं। कर्म सम्प्रदान और अधिकरण के प्रत्ययों में से भी 'ला' और 'न' का प्रयोग अधिक होता है।

स्पिति में उत्तम पुरुष को छोड़कर शेष सर्वनाम तिब्बती भाषा के ही हैं। स्पिति में 'मैं' के लिए 'स्ग्रों' शब्द भी प्रयुक्त होता है और और तिब्बती 'ग्रं' भी और हम के लिए प्राय 'ड.' है, जो तिब्बती भाषा के अनुकूल नहीं हैं। वहां 'मैं' के लिए 'अं' और हम के लिए 'अ छो' शब्द होते हैं। अन्य पुरुष के लिए तिब्बती में दो शब्द 'खा' और 'दे' प्रयुक्त होते हैं। इनमें से 'दे' प्राय: बेजान चीजों के लिए प्रयोग में में लाया जाता है और 'खो' जानदार के लिए। स्पिति में दोनों का रूप समान लगता है, यथा-दे अंई रोपो इन (वह हमारा दोस्त है) और खो युल ले फीता ला बुग्रं सोअं (वह नगर से शहर गया), आदि।

स्पिति भाषा में एक और विशिष्टता देखने में आती है, वह यह कि सम्बन्धवाचक शब्दों के आरम्भ में 'अं' का संयोग हो जाता है यथा, अफा (पिता), अमा (माता), अचो (भाई), अखु (चाचा) आदि। स्पिति भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी आ गये हैं जो तिब्बती भाषा की प्रकृति के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। एकाक्षरी भाषा के कारण उसमें बाहरी भाषाओं के बहु-अक्षरी शब्द समा नहीं सकते। यही प्रत्यक्ष लद्दाखी बोली का स्पिति पर प्रभाव होता है। अन्य भाषाओं के शब्द कुछ विकृत रूप में आए हैं, विशेषतया इनका लिखित रूप निस्सन्देह बड़ा भिन्न है। जैसे—स्पिति में

ट्ऊपोलो (स्पोलो) चें रुग=लड़का गेंद खेलता है।
ट्रिऊ बुटा (अबुट्रा) ला जग दुग=बन्दर वृक्ष पर चढ़ता है।
पुशि (पुशि) ला ङै मा तु कुन योग=बिल्ली की छोटी सी दुम होती है।
दाल (दल) दअं ञामपोड़ी शिमपा योअं=दाल के साथ भात मीठा होता है।

अ ंईख अ ंपा ना किताब (कितब) दअ ं अलमारी (अलमरी) योद=मेरे घर में पुस्तकें और अलमारी है।

ऊपर कथित उदाहरणों में बाहरी भाषा के शब्दों के लिखित रूप कोष्ठक में तथा उच्चरित रूप उससे बाहर हैं। यहां पोलो, बुटा, पुशि, किताब, अलमारी आदि शब्दों का प्रयोग स्पिति बोली में दूसरी भाषाओं के प्रभाव को प्रकट करता है। तिब्बती भाषा में इनके रूप क्रमश: च्ँदमो, शिअं, ज़िमि, पेद्दा और छगगम हैं।

स्पिति बोली की वाक्य रचना साधारणतया तिब्बती के समान है जो हिन्दी वाक्य रचना से कर्त्ता, कर्म और—अधिक भिन्न नहीं। क्रिया की दृष्टि से स्पिति की बोलो में विशेषण कभी-कभी संज्ञा अथवा सर्वनाम के पहले भी आ जाता है जो तिब्बती में नहीं आता। इसी तरह सहायक शब्दों की भी स्थिति है, जैसे तिब्बती में जो वाक्य रचना 'अंस लेका–दी ज्थेद थुब क्यी मी दुग' (मैं काम यह नहीं कर सकता) है वह स्पिति में हिन्दी की तरह 'स्अं दी लेका चो मी थुब' (मैं यह काम नहीं कर सकता, होता है। इसी तरह तिब्बती में 'उसने लाठी से सांप मारा' खो, अं 'ग्युग' सस् ड्रुल सदपा रेद' ही होगा. ''उसने सांप लाठी से मारा'' कभी नहीं हो सकता परन्तु स्पिति में ऐसी वाक्य-रचना हो सकती है ''खोसु ड्रूल बेग्रंका न सु सेद सोअं''।

अत: स्पष्ट है कि हिमाचल प्रदेश के स्पिति क्षेत्र की लोकभाषा में तिब्बती भाषा से पर्याप्त भिन्नता है और इसके स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है।